ॐ R.S.

ओउम राधा स्वामी सहाय।

भक्ति भावना से युक्त श्रद्धा सुमन

"योग साधना"

श्री सतगुरु महाराज परम् दयाल
स्वामी गोविन्द कोल जी
के प्रति समर्पित।
उनकी ही देन उनके ही प्रति।

REVEALED BY & DEDICATED TO
HIM

By
SH. BANSI LAL KOTWAL
(Bansari)
"बन्सरी"

ॐ R.S.

ओ३म हरिः नमः।

ॐ श्री गणेशाय नमः।

"वक्रतुण्ड़ महाकाय
सूर्यकोटि सम प्रभः।
निर्विध्नं कुरू मे देव
सर्वकार्येषु सर्वदा।।

ॐ ग्लूँ गँ गणपतये नमः।
ॐ गण् गणपतये नमः।

ॐ

"अपसर्पन्तु[1] ते भूता,
ये भूताःभुवि संस्थिताः[2]।
ये भूता विघ्नकर्तारः
ते नशन्तु शिवाज्ञया।।"

---

[1]भाग जाँए [2]ठहरे हुए हैं।

ॐ R.S.
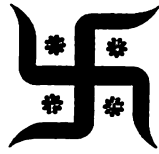
"योग साधना"

की रूप रचना, झलक

व महात्म्य ।

" ओ३मकारऽ आधारऽ आदि दीवय।
आदि अन्ति रस्ति आनन्दो हो।।"

(स्वामी गोविन्द कोल)

ॐ R.S.

"ॐ हरिः नमः ।"

"ॐ शुक्लाम्बरधरं विष्णुं
शशिवर्ण चतुर्भुजं ।

प्रसन्न वदनं ध्यायेत्
सर्व विध्नोप शांतये ।।

अभिप्रीतार्थ सिद्ध्यर्थं
पूजितो यः सुरैरपि ।
सर्व विघ्नच्छिदे तस्मै
श्री गणादिपतये नमः ।।"

विश्वभय विनाशम
दुःख दारिद्र अृण नाशनम् ।
सकल सुख विकासम
श्री महागणेशं नमामि ।

ॐ R.S.

"ॐ नमो गुरुवे सरस्वती रूपाय"।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः
गुरुः साक्षात् महेश्वरः।
गुरुरेव जगत् सर्वं
तस्मै श्री गुरुवे नमः।।"

"मंत्र मूलं गुरुः वाक्यं।।
पूजा मूलं गुरुः पंद।।
ध्यान मूलं गुरुः मूर्ति।
मोक्ष मूलं गुरु कृपा।।"

ॐ श्री गुरुवे नमः।
परम् गुरुवे नमः।
परमेष्ठिनि गुरुवे नमः।
परम् आचार्याय नमः।
धर्माचार्याय नमः।
आदि स्यद्धिभ्यो नमः।

ॐ R.S.

"कबीर धारा अगम की।
सत्गुरु दीव दिखाय।।

तामे उल्ट स्मर भजो।
स्वामी संग लगाय।।"

(संत कबीर)

"मो को कहाँ ढूँढ़े रे बंधे।
मैं तो तेरे पास में।।

ना मैं देवल ना मैं मस्जिद।
ना काबा कैलास में"।।

(संत कबीर)

"दई दई सब करत हैं।
दुई हरत कोई कोय।।

जा के मन से दुई हरे।
सोई तरे भव तोय"।।

(बन्सरी)

ॐ R.S.

प्रस्तावना

योग साधना की प्रेमिकाओं और भक्तिमान दो विदुषियों से प्रेरणा पाकर कि योग साधना पर लिखित रूप से प्रकाश ड़ाला जाए ताकि इसका सहज रूप तथा अनुभव प्रकट हो जाए, मैं ध्यान मग्न हो गया कि अचानक ही मेरे कानों में यह दोहा गूंजने लगाः-

"करत करत अभ्यास के
जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते
सिल पर करत निसान।।"

इतने में अनजाने ही मेरी लेखनी चल पड़ी कि पच्चास-साठ पन्ने लिखे गये। दूसरे ही दिन एक महान् साधक का आना हुआ। उसकी दृष्टि इन लिखित पन्नों पर पड़ी। उसने पढ़ते ही कहा कि यह साधकों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। अतः इस पर और थोड़ा-सा प्रकाश ड़ाला जाए। फिर अनायास ही लगभग दो सौ पृष्ट रचे गये जिनमें सत्गुरु पूजनीय परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के भजनों का भी प्रासंगिक समावेश आया जिस से तथ्य में और भी स्पष्टता आ गई। फिर एक और भक्त जन जो स्वयं भी योग साधना के अनुयायी हैं के कहने पर कि "इससे योग साधना में विशेष सहायता मिल सकती है। अतः इसे छपवाना चाहिए"। फिर इसे पुस्तिका का रूप देने के लिए कुछ विशेष ग्रन्थों का अधययन करना अनिवार्य

हुआ। जिनका प्रसंग भी इसमें आया यहाँ तक कि कहीं कहीं उन प्रसंगों को ज्यों का त्यों रखना पड़ा ताकि योग अभ्यास के मार्ग व विधि विधान में पूरी पूरी स्पष्टता आ जाए और तथ्य की पुष्टि हो जाए। इन ग्रन्थों में विशेष रूप से उपनिषद्, पञ्चस्तवी, शिव महिम्नास्तोत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, संत कबीर दास जी के दोहे, गुरु वाणी, महर्षि शिब्रतलाल (दयाल) के रिसाले आदि उल्लेखनीय हैं। विशेषकर परम् पूज्य श्री स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के भजनों तथा समय समय पर उनके जीवन काल की मौखिक बताई हुई कहानियों तथा उपदेशों का भी योगदान हुआ है। लिखते लिखते ऐसा आभास होने लगा कि स्वामी जी महाराज आमने सामने बैठे हुए स्वयं ही लिखवा रहे हैं। अतः मुझे पता ही नहीं चला कि क्या कुछ लिखने में आया। जो कुछ भी लिखने में आया उसमें मेरा कुछ भी नहीं है जो कुछ भी है सब कुछ सत्गुरु महाराज का ही है।

"सोरुय छु च्योनुय तृऽ
म्योन न सा'ऽ कें्ह।
वनतम सा'ऽ अर्पण
क्याह करय बृऽ च्येह।।"

अब मैं इस परिश्रम को तभी सफल समझूँगा जब इसके अध्ययन से मानव जाति का यह लोक भी सुधर जाए तथा परिलोक भी बन जाए और हर प्रकार से उनका उद्धार व कल्याण हो सके और जीवन सुखमय व आनन्दित व्यतीत हो जाए। हमारे सत्गुरु महाराज की भक्तों के प्रति ऐसी ही धारणा हुआ करती थी कि उनका यह लोक भी संवर जाए तथा परिलोक भी बन

जाए तथा हर प्रकार से उनका उद्धार व कल्याण हो सके जिस से उनका जीवन शान्ति पूर्ण, आनन्दित व सुखमय होकर व्यतीत हो। हमारे सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज की भक्तों के प्रति ऐसी ही धारणा हुआ करती थी कि उनका यहा लोक तथा परिलोक भी सँवर जाए और इसी जीवन में उनके जन्म के लक्ष्य की पूर्ति हो जाए।

अब यदि इसमें कोई त्रुटि प्रतीत हो तो कृपया मौखिक अथवा लिखित रूप से दिखाने का कष्ट करें ताकि अगले संस्करणों में उसकी शुद्धि सहर्ष की जाए ताकि मानव जाति का वास्तविक तथा पूर्ण कल्याण हो जाए जो इस पुस्तिका के रचने का मुख्य उद्देश्य तथा अभिप्राय है।

मैं उन विदुषियों तथा उन महानुभावों का बहुत-बहुत आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तिका को रचने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया अन्यथा मुझ में ऐसी कोई शक्ति व प्रतिभा नहीं थी कि मैं एक अक्षर भी लिख सकता। इसमें पूज्य सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज की कृपा दृष्टि बहुत कुछ काम कर गई। यह सब कुछ ईश्वरीय देन ही है और शेष कुछ नहीं।

भवदीय सद्भावी
(बन्सरी)
बन्सी लाल कोटवाल
11/A, Ashok Nagar, Canal Road, Jammu-Tawi.

ॐ R.S.

प्रथम खण्ड
"योग अभ्यास द्वारा आत्म ज्ञान की पहचान"

स.न० शीर्षक सूची पृष्ठ न०

ॐ R.S.

1. अभ्यास का महत्व

"करत करत अभ्यास के
जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते
सिल पर करत निसान।।

अर्थात् : अभ्यास करते करते एक मूर्ख भी बुद्धिमान बनता है। जिस प्रकार कुएँ से पानी निकालने वाली रस्सी के बार बार ऊपर नीचे आने जाने की रगड़ से पत्थर पर भी निशान बन जाता है। उसी प्रकार बार बार किसी कार्य के करने से कार्य में दक्षता आती है तथा सफलता प्राप्त होती है।

यही तथ्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य ठहरता है, चाहे वह भौतिक जीवन हो चाहे आध्यात्मिक जीवन हो। योग साधना में भी यही बात खरी उतरती दीख पड़ती है, जिस में चित की एकाग्रता का होना अनिवार्य है। जो अभ्यास की सुदृढ़ता पर ही निर्भर करता है।

2. एकाग्रता की परिभाषा

शरीर के अन्तर या बाहिर किसी एक बिन्दु पर मन को कुछ क्षणों के लिए स्थिर रखने का नाम एकाग्रता है। चित्त की एकाग्रता (concentration of mind) योग साधना की सीढ़ी की प्रथम पौड़ी है। इसके लिए अभ्यास अर्थात् क्रमिक उपासना अनिवार्य है। ऐसा प्रति दिन निश्चित समय पर एक-दो अथवा तीन बार करना होता है। इस प्रकार प्रति दिन के अभ्यास से

चित् की एकाग्रता बनने लगती है। इसके अनिवार्य अंग सत्गुरु प्रेम, भगवत्-प्राप्ति का दृढ़ संकल्प, शेष संकल्पों का वैराग्य, सब जीवों को अपना-सा समझना, सहनशीलता दया व सेवा भाव, व्यर्थ के वाद विवाद का त्याग, जगत् के बन्धनों के प्रति उदासीनता, सब के साथ प्रेम का बर्ताव, परोपकार की भावना आदि हैं। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों के लिए चित् की एकाग्रता परम् आवश्यक है जिस में लोभ, मोह, मद, अहंकार, काम, क्रोध, कपट, कुटिलता, वैर, हसद, द्वेष आदि की तनिक भी गुँजाइश नहीं होती है। यह ऐसी बाधाएँ हैं जिनसे एकाग्रता का भंग होना अवश्यम्भावी है। इसके विपरीत आध्यात्मिक मार्ग में एकाग्रता के लिए शुद्ध चरित्र, सदाचार, मानसिक सुदृढ़ता, सुकृत की कमाई, शुद्ध अन्न, निःस्वार्थ भाव, निष्काम तथा निष्कपट व्यवहार, विनम्र स्वभाव, शान्त वातावरण आदि का होना अनिवार्य है। भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, शरणता, सत् संग, सत् स्मरण, निष्काम भाव आदि से सच्चे आत्मिक ज्ञान का बोध तो होता है फिर भी एकान्त में रहकर विधि पूर्वक अभ्यास करने से चित्त की एकाग्रता पूर्णता को प्राप्त होती है। यही तथ्य सत्गुरु महाराज परम् संत परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी (वनपुह, अनन्तनाग, काश्मीर) की इस अमृत वाणी में स्पष्ट रूप से वर्णित हैः-

"महामन्त्र ओ३मिय ज़ान।
ग्यवुन सू-हमिय ज़ान।।

ईकान्तस अन्दर बेह।
कतुन पनुन यन्दिर हेह।

सुऽन्दर बेह क्रमिय ज़ान।।

नेरुन नय छुय बरय।
पनुन पान कर सरय।
घरय अगमिई ज़ान।।

गूव्यन्दो छुय प्रणाम।
च़िय अगम तय च़िय अन्नाम।
सोरुय अगमिय ज़ान।।

इसी प्रकार लोभ, मोह, अहंकार, आदि त्यागने की भावना उनके इस भजन से स्पष्ट है:-

"भव्ऽ सर्ऽ तारि स्यज़र पज़र।
लोल्ऽ सान सू हम सू चूऽ स्वर।।

काम क्रूध लूभ मुह त्ऽ मद्‌य।
यिम शथूर छिय स्यठाह बद्धिय।
रद्‌िय करुख तीय गछ़ी ज़बर।।

वीद गीथ ग्यवान गा'ऽमृत्य कली।
गूव्यन्दऽ च्याऽज्य च़्य संशय च़'लिय
ज़िन्दऽ मर सहज़ऽ क्रय च़ऽ कर।।"

पूर्ण एकाग्रता की प्राप्ति के लिए नियम पूर्वक अभ्यास की बहुत ही आवश्यकता है। अभ्यास से तात्पर्य आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए ईश्वर के नाम व गुणों का श्रवण, मनन व कीर्तन; भगवत् प्राप्ति विषयक शास्त्रों अथवा सन्तों द्वारा रचित ग्रन्थों का बार बार पठन पाठन और श्वास उश्वास द्वारा जाप करने के दृढ़ निश्चय से है। इसमें नमन, स्मरण, कीर्तन, याचन,

समर्पण विशेष कार्य करते हैं।

अभ्यास के प्रथम चरण में किसी ऐसे लक्ष्य को केन्द्र बिन्दु बनाना होता है जो मन को भाता हो तथा जिस में मन की प्रीति व प्रतीति हो। जैसे किसी को श्री गणेश जी, किसी को संकट मोचन हनुमान जी, किसी किसी को श्री कृष्ण जी महाराज, किसी को श्री रामचन्द्र जी महाराज, किसी को विष्णु भगवान तो किसी को ब्रह्मा जी आदि प्रिय लगते हैं। इसी प्रकार कोई शक्ति स्वरूपा माता राज्ञा भगवती, श्री शारिका माता, श्री ज्वाला माता, श्री महा लक्ष्मी, हरा त्रिपोर सुन्दरी, श्री सरस्वती माता, श्री दुर्गा माता, श्री चण्ड़ी माता श्री वैष्णव देवी माता, श्री सुक्राला माता, श्री सरथल माता आदि पर प्रीति व प्रतीति रखता है। अतः उसी देव अथवा देवी को उपास्य अथवा अपना अभीष्ट देव मानकर कुंजी वाले सत्गुरू से दीक्षा लेकर अर्थात् नाम दान पाकर उसी पर ध्यान केन्द्रित करके विधि पूर्वक मंत्र का जाप करना होता है।

3. नाम (शब्द) की महत्ता

"नाम" अर्थात, "शब्द" से तात्पर्य है परमात्मा का कोई भी पवित्र नाम। यही नाम शनैः शनैः अन्तर शब्द का रूप धारण करता है, जिसको ऋृषि-मुनिः "आकाश वाणी'; वेदः 'नाद'; उपनिषद्ः 'उद्धगीत'; सूफी संतः निदा-ए-आसमानी; गुरु नानक साहब; 'शब्द'; "हुकुम" अथवा "कीर्तन"; बाईबल; वर्ड' अथवा 'लोगास'; आदि का नाम देते हैं। इसी को 'सार शब्द'; 'सत् शब्द'; 'सीर अस्रार'; 'अनहद नाद'; 'अजपा जाप'; 'धुन'

आदि की भी उपाधि दी जाती है यही परम् चेत्तन शब्द (नाम) सृष्टि की रचना और पालन करने वाला है। आध्यात्मिक विकास बहुत कुछ इसी 'नाम' के स्पष्टी-करण पर निर्धारित है जिसमें सत्गुरू मेहर विशेष कार्य निभाता है।

आध्यात्मिक विकास अर्थात् इस धुनात्मक शाब्दिक स्वष्टीकरण की उन्नति के लिए प्रति दिन प्रातः व सायं एक-आध घंटे के लिए पहले पहले क्रम पूर्वक सत्गुरु से बताई हुई विधि के अनुसार नाम जाप का अभ्यास करना होता है। मन तो पहले पहले तनिक भी नहीं मानता है। ऐसा करना तो व्यर्थ समय नष्ट करना जैसे प्रतीत होता है। परन्तु धीरे-धीरे पूर्ण पहुँचे हुए सत्गुरु की कृपा दृष्टि से सब कुछ सहज प्रतीत होने लगता है तथा इसमें विशेष रुचि होने लगती है। केवल साहस, धैर्य, विश्वास, उद्यम (उद्योग) तथा दृढ़ निश्चय का होना अनिवार्य है। इसी भाव का स्पष्टीकरण पूज्य परम् दयाल स्वामि गोविन्द कोल जी महाराज के इन भजनों में हुआ है।

i. **"सू सू करान**
सू दिथ म्य ज़ोर गोम।
तोर गोम यलय वज़ान छु सू।।°°

ii. **सू सू छ़ारान पानस खोर गोम।**
नाभि कमलह वज़ान छु सू।।
ग्वड़ऽ ग्वड़ऽ मन म्य ओर गोम योर गोम।।°°

iii. **गरि ख्वतह गरि म्य ल्वत ल्वत भोर गोम।**
हृथ कमलह वज़ान छु सू।।

पानऽन्यार करिथ पननुय प्यारे गोम।।°°

iv. गूव्यन्दस ख्वश पननुय गोर गोम।
सर्वह मंगलह वज़ान छु सू।।
मिलविथ यारस मंज़्युमयोर गोम।।°°

इस भजन में भी इसी शब्द विकास का भाव वर्णित होता है।

2. सत्गुऽरऽ पादन तल चऽ नम।।
कन थव वज़न छुय ज़ीर बम।।°°

धुन आत्मुक छुय 'सू' शब्द।
सुय ज़ानि युस युस 'सू' सपुद।।
उद्यूगी छुख छुय न गम।।°°

तिम तिम वाऽत्य सत् धामये।
अलख अगम अन्नामये।।
सत् नामसिय भरिथिय प्रेयम।।°°

नादस तऽ ब्यन्दस गव अपोर।
गूव्यन्द्ऽ यस तोरूक छु ज़ोर।
योरनस दयालन छुम कसम।।°°

यह तो सत्गुरु की कृपा दृष्टि की ही महानता है कि मनुष्य अन्तर्मुखी बनने लगता है। नहीं तो जो यह मनुष्य की भीतरी मनोवृति होती है वह बाहिरी संसार का एक बड़ा भारी आईना बनकर प्रति क्षण प्रति पल नित नए नए रंग दिखलाया करती है और एक ऐसा चम्निस्तान खड़ा करती है जिस में नाना प्रकार के बेल बूटे खिलते रहते हैं। जिसके आकर्षण से यह मनोवृति

उनमें ही रमण करती रहती है और कदापि अन्दर झाँकने का प्रयत्न नहीं करने देती है। यही कारण है कि चित्त की एकाग्रता का साधन एक या दो दिन की बात नहीं होती है अपितु सालों साल के उपरान्त ही अपने सतुगुरु के बताए हुए विधि पूर्वक अभ्यास करने के पश्चात् ही मन को वश में करने का प्रयास यावत् मात्र ही होने लगता है। सतुगुरु के चरणार्बिन्दों के ध्यान तथा चिन्तन के अनथक अभ्यास द्वारा ही शनैः शनैः मन का हलचल दूर होने लगता है। वैसे तो परमात्मा अन्दर भी है तथा बाहिर भी है परन्तु उसे पाने के लिए मन को स्थिर करके अन्दर झाँकने की आवश्यकता होती है। ज्ञान, ध्यान, मनन, चिन्तन, सत्संग, ग्रन्थ आदि पोथियों का पठन-पाठन, समाधि, धारणा आदि सब का उद्देश्य मन को स्थिर करने से ही है। परन्तु वह मनुष्य जिस में नाना प्रकार की अभिलाषाएँ तथा आकाँक्षाएँ होती हैं वह कदापि मन को क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं रख सकता है। उसका मन बन्दरों की भाँति उच्छलता रहता है कभी एक पेड़ पर तो कभी दूसरे पेड़ पर। उसका मन गिर्गिट की भाँति सदा ही रंग बदलता रहता है। वह सदा ही ख्याली पुल्लाव पकाता रहता है अर्थात् सदा ही हवाई किल्ले बाँधता रहता है। अभी एक इच्छा पूर्ण ही नहीं हुई होती है तो दूसरी अभिलाषा उभर आती है। इसी प्रकार अभिलाषाओं का तान्ता बन्धता रहता है जिनका अन्त ही नहीं होता है। इनके अन्त का केवल एक मात्र उपाय है कि मन में ऐसी विचार धारा उजागर करनी है कि:-

"इसके पश्चात् क्या?" अर्थात्
"What after ?" ।

मनुष्य ऐश्वर्य भोग आदि भोगने के पश्चात् वैसे का वैसा ही रहता है। करोड़पति होकर भी खाली हाथ ही चला जाता है। अतः आध्यत्मिक मार्ग में अच्छी एकाग्रता पाने के लिए संतोष का होना अत्यन्त आवश्यक है।

4. संतोष की परिभाषा

संतोष का तात्पर्य आकाँक्षा (ऐहिक अपरिमित अभिलाषाओं) के दमन से है। इस पर एकाग्रता प्राप्ति का विशेष आधार है। संतोष मालिक की मोज पर दृढ़ आस्था रखने से प्राप्त होता है। जैसा कि पंड़ित दयाल महात्मा पृथ्वीनाथ जी महाराज के मुखार्बिन्द से सदा ही यह अमृत वाणी सुनने को मिलती थीः–

"संतोषा परमो लाभः।
सत्संगा परमम् धनम्।
विचारः परमम् ज्ञानम्।
शमम् च परमम् सुखम।।"

यही भाव इस दोहे से भी स्पष्ट रूप से प्रकट होता हैः–

"चाह गई चिन्ता मिटी
मनुवा बेपरवाह।
जिस को कुछ ना चाहिए
सो ही शाहनशाह।।"

अर्थात् : जितनी देर अभिलाषाएँ मानव को घेरे हुए रखती हैं उतनी देर चिन्ता उसे सताती रहती है और वह परेशान रहता है। अभिलाषओं के समाप्त होते ही

उसके मन की परेशानी दूर होती है और फिर उसके समान कोई शाहनशाह भी नहीं होता है। अपितु उस से बढ़कर और कोई निश्चिन्त नहीं होता है। वह शाहनशाहों के शाहनशाह से भी बढ़कर होता है।

यही भाव श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक से प्रकट होता है जिस में संतोष व परम् शान्ति अर्थात् संतुष्टि ही आध्यात्मिकता के विकास के लिए अनिवार्य दिखाया गया है:-

"यो न हृष्यति न द्वेष्टि
न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी
भक्तिमान् यः सः में प्रियति।।

अर्थातः जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है और जो शुभ अथवा अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है वह भक्ति से युक्त संतोषी पुरुष मेरे को प्रिय है।

इस प्रकार संतोष पूर्वक उपासना, जिस में कर्म फल की त्याग भावना, गुरु मन्त्र का गुप्त उच्चारण और स्व-स्वरूप में विलीन होने की भावना हो, आध्यात्मिक विकास की कुँजी है।

इसी परम् शान्ति अर्थात् संतुष्टि तथा त्याग भावना को आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक तथा श्रेष्ठ प्रकटाया गया है। जो इस दोहे से स्पष्ट है:-

"श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासात्।
ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म फल त्यागः।

त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्।।"

अर्थात् : अभ्यास से परोक्ष-ज्ञान श्रेष्ट है, परोक्ष-ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से ही तत्काल परम् शान्ति प्रात्त होती है।

इसी संतुष्टि के बारे में भगवान कृष्ण अर्जुन से स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्ष्ण इस श्लोक में प्रकटाता हैं:-

"प्रजहाति यदा कामान्
सर्वान् पार्थ मनोगतान्।।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

अर्थात्: हे अर्जुन। जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

इसी संतोष की प्राप्ति के बारे में स्वामी परमानन्द जी महाराज का यह पद वर्णनीय है:-

"कर्म्॒ऽ भूमिकायि दिज़ि धर्मुक बल।
सन्तोषि ब्यालि भवि आनन्द फल।।

इस प्रकार अनथक अभ्यास व ध्यान धारणा द्वारा संतुष्टि प्राप्त होते ही एकाग्रता बनती है जो मनोवृत्ति को निर्मल तथा चित्त फुर्णा की उफान को शान्त रखने में सहायक सिद्ध होती है। इस से विचार-धारा को शक्ति प्राप्त होती है जिस से परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति सम्भव बनती है।

5. परोक्ष ज्ञान

जो सुनने तथा शास्त्र पठन से परमेश्वर के स्वरूप का अनुमान ज्ञान होता है और उसी के आधार पर अभ्यास व ध्यान धारणा द्वारा स्थूल एकाग्रता प्राप्त होती है उसी का नाम 'परोक्ष ज्ञान' है। यह 'परोक्ष ज्ञान' स्थूल एकाग्रता का ही परिणाम होता है। यह मनुष्य को भौतिक उन्नति प्राप्त करने में सिद्ध होती है। इसी से मान्सिक शक्ति प्राप्त होती है और आन्तरिक दृष्टि खुलने लगती है। इसी के सहारे बहुत सारे वैज्ञानिकों ने नये नये आविष्कारों का निर्माण किया है।

6. विज्ञान व आध्यात्मिकता

यह तो इसी कारण निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विज्ञान की उन्नति वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति है। ऐसा ही महान् वैज्ञानिक एन्सटाइन का कथन है:-

"Where science ends,
spirituality starts"

अर्थात् : जहाँ विज्ञान का अन्त है वहीं आध्यात्मिकता का आदि होता है।

विज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि का नाम है। विज्ञान से ही सन्तुलित बुद्धि *(Balanced Mind)* का निर्माण होता है जो वास्तव में आध्यात्मिकता की आधारभूत शिला मानी जाती है। भगवान जगत् गुरु शंकराचार्य जी ने भी विज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है:-

"विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति।"

अर्थात् : विज्ञानमय उपासना ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही

आनन्द है।

भाव यह है कि विज्ञानवान मनुष्य श्रद्धा पूर्वक सन्तुलित मन से कर्मों का विस्तार करता है, चाहे भौतिक कर्म हो चाहे आध्यात्मिक कर्म हो। यहाँ तक कि इन्द्र आदि समस्त देवगण विज्ञान रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। जिस से वे ज्ञान तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बनते हैं। "विज्ञानमय उपासनम्।" इसी बात का स्पष्टीकरण है। अतः विज्ञान द्वारा ही मनुष्य आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है जो आध्यात्मिकता का सार तत्त्व है अतः ऐसा कहना उचति ही हैं कि विज्ञान द्वारा सब कुछ रचित होने के कारण ही विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है। यह विज्ञान की ही देन है जो स्थूल एकाग्रता का परिणाम है कि मानव-जीवन आनन्दित व सुखमय बनने लगा है। यद्यपि वास्तविक तथा स्थायी सुख व आनन्द कुछ और ही है, तथापि नाना प्रकार के दुःख दर्दों अर्थात् आधिभौतिक संतापों से मानव विज्ञानमय कोष द्वारा ही छुटकारा पा सका है। इस प्रकार तीन तापों आध्यात्मिक, आदि दैविक व आदिभौतिक में से एक संताप की निवृत्ति विज्ञान द्वारा उपचार से ही प्राप्त होती है। विज्ञान से ही मानव को शारीरिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकी हैं जिस से आध्यात्मिक मार्ग तय करना बहुत सरल अर्थात् सहज बनने लगा है। शरीर जो आत्मा का वाहन है जब स्वस्थ रहे तभी योग साधना में उन्नति सम्भव हो सकती है। नहीं तो एकाग्रता का प्राप्त होना कठिन ही है जो आध्यात्मिकता की आधारशिला है। स्थूल एकाग्रता के कारण-स्वरूप ही विज्ञान की चमत्कारिक देन संसार को प्राप्त हुई है। विज्ञान तथा एकाग्रता अन्तर-सम्बन्धित

(inter-related) हैं। अर्थात् कारण व कारज (cause and effect) स्वरूप हैं। एक के बिना दूसरे का होना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार एकाग्रता विज्ञान की नींव है और विज्ञान के बिना एकाग्रता प्राप्त ही नहीं हो सकती है। इसीलिए कहा भी गया हैः "वैद्यो नरायणो हरे।" यद्यपि इसका सम्बन्ध आत्म प्रकाश से है अर्थात् 'संवित शक्ति' से है, तथापि आत्म शक्ति की नींव विज्ञान को ही माना गया है।

7. स्थूल एकाग्रता तथा सूक्ष्म एकाग्रता

स्थूल एकाग्रता पर ही सूक्ष्म एकाग्रता आधारित है। अर्थात् स्थूल एकाग्रता से ही सूक्ष्म एकाग्रता जागृत होती है। स्थूल एकाग्रता की गहराई ही सूक्ष्म एकाग्रता है। इसी से एक निर्विध्न तथा अविच्छिन्न विचारधारा का स्वरूप बनता है जो तेलधारावत आत्मा की और केन्द्रित होता है ओर सूरत अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगती है। इस प्रकार सूरत शब्द का योग बनकर 'शब्द से अशब्द और सूरत से निरत' स्वरूप ग्रहण होता है जो मनुष्य-जन्म का कूटस्थ अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य होता है जिसको जीवन-मुक्ति की उपाधि दी जाती है। इसी को निवृत आत्म-स्वरूप कहा जाता है।

अतः विज्ञान-रूप ब्रह्म की उपासना 'ध्यान' होता है और यही 'ध्यान' अवस्था 'स्थूल-एकाग्रता' कहलाती है। इसके स्थिर होते ही 'सूक्ष्म-एकाग्रता' जागृत होती है जो 'समाधी अवस्था' कहलाती है। इस प्रकार स्थूल एकाग्रता सगुण ध्यान होता है। जिसमें सन्तुलित मन तथा निश्चयात्मक बुद्धि, जो विज्ञान के विशेष अंग हैं,

से अपने आराध्य प्रभू का ध्यान अर्थात् एक केन्द्र बिन्दु का ध्यान स्थिर होकर रहता है, जिसमें उन केन्द्रों के मन्त्रों का श्रद्धा पूर्वक जाप भी सम्मिलित है। इसी भाव का संकेत इस पद में भी मिलता है :-

"मंत्र मूलं गुरुः वाक्यं।
पूजा मूलं गुरुः पंद।
ध्यान मूलं गुरुः मूर्ति।
मोक्ष मूलं गुरुः कृपा।।"

अब यहाँ पर विशेष केन्द्रों के क्रम से विशेष मन्त्रों का जाप उल्लेखनीय है जो इस प्रकार है :-

8. विशेष मन्त्रों का उल्लेख

(i) **मूलाधारः** - 1. ॐ श्री गणेशाय नमः।
2. ॐ ग्लौं गँ गणपतये नमः ।
3. ॐ गण् गणपतये नमः ।

(ii) **स्वाधिष्ठानः**
4. ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः।
5. ॐ ब्रँ ब्रह्मणे नमः।
6. ॐ ब्रह्म भूर् भवः स्वरूम्।

(iii). मणिपुर :- (नाभिस्थान)
7. ॐ श्री पति नारायणाय नमः।
8. ॐ नमो नारायणाय।
9. ॐ हरिः नमः।
10. ॐ श्री गोविन्दाय नमः।
11. ॐ श्री वासुदेवाय नमः।
12. ॐ नमों वासुदेवाय।
13. ॐ श्री हरिः।

14. ॐ हरे कृष्ण। हरे राम।
15. ॐ जय श्री राम।
16. ॐ श्री कृष्णाय नमः।
17. ॐ श्री रामचन्द्राय नमः।
18. ॐ जय सिया राम।
19. ॐ श्री रामभद्राय नमः।
20. ॐ श्री संकट मोचन वीरभद्राय नमः।
21. ॐ श्री हनुमते नमः।

***(iv)*. अनाहत् : – (हृदयस्थल):–**

22. ॐ नमः शिवाय।
23. ॐ नमो मृत्युञ्जिते।
24. ॐ शँ शंकराय नमः।
25. ॐ जय निरञ्जन।
26. जोत निरञ्जन।
27. अलख निरञ्जन।
28. निरञ्जन।
29. हरिः ओ३म तत् सत्।

***(v)*. विशुद्धाख्य : – (मध्यमा) :–**

30. ॐ रारँग सारँग।
31. ॐ वैखोरियाये नमः।
32. ॐ नमो भगवती वासुदेवाय।
33. ॐ ह्रीं श्रीं हूँ फ्राँ आँ शाँ शारिकाये नमः।
34. ॐ ह्रीं श्रीं हूँ फ्राँ आँ राँ राज्ञाये नमः।
35. ॐ ज्वाला मुखिये नमः।
36. ॐ चण्ड़िकाये नमः।
37. ॐ सरस्वति रूपाय वैखोरिये नमः।

***(vi).*आज्ञा चक्र** : – (त्रिकुटि) :–

39. सू हम् सू।
40. सो३ हम।
41. हा–हू।
42. अनलहक।
43. अहम् ब्रह्मोस्मि।
44. ॐ परम् तत्त्वाय नमः।
45. ॐ परमात्मने पुरूषोत्तमाय नमः।
46. ॐ प्रत्यक्ष देवाय भास्कराय नमो नमः।
47. ॐ स्वच्छन्द नाथ भैरवाय नमः।

***(vii).*सहस्र दलः** – (शून्य चक्र) :–

48. एँ–कर्लीं–सौ।
49. ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।।३।।
50. ओ३म राधा स्वामी।

अथवा

राधा स्वामी। (R.S)। आदि आदि।

इनमें अपने आराध्य ईष्ट देव का गुण गान, कीर्तन, मनन, तथा ध्यान–धारणा भी सम्मिलित है। जैसे आराध्य ईष्ट देव का सर्व–शक्तिमान होना, उसकी सर्व–व्यापकता का आभास, उसके भक्तिवत्सलता तथा दयानिधान का होना और उसके स्मरण में भजन कीर्तन करना भी आता है। यह सब स्थूल–एकाग्रता अर्थात् सगुण ध्यान–धारना के अन्तर्गत आता है परन्तु जो यह अन्तिम शब्द है वह सूक्षम एकाग्रता अर्थात् निर्गुण उपासना के अन्तर्गत आते हैं।

9. सूक्ष्म एकाग्रता तथा ओ३मकार ।

स्थूल एकाग्रता के सुदृढ़ बनते ही सूक्ष्म एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है। सूक्ष्म-एकाग्रता को ही निर्गुण उपासना कहा जाता है। यह अन्तिम तीन शब्द 48 वाँ 49 वाँ और 50 वाँ शब्द इस उपासना के आधार भूत हैं। यह इस सूक्ष्म एकाग्रता को सुदृढ़ता तथा पूर्णता प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत ओ३मकार तथा उसकी मात्राओं व संधियों का गहन, मनन तथा प्राणों से बार-बार मंत्र-जाप द्वारा अपने आप को आत्मा के साथ एकीकरण करके आत्मा के प्रकटीकरण द्वारा परमात्मा में विलीन होना आता है। आत्मा के प्रकटीकरण से तात्पर्य ओ३मकार का साक्षात्कार होने से है। इसमें 'सो३हम' भाव प्रकटाना, विदेह होना, विमन तथा अचेत बनना आदि सम्मिलित हैं। निर्विकल्प, निर्विकार तथा निष्कल बनना सूक्ष्म एकाग्रता के लक्ष्ण हैं और इसी को सहज समाधी की उपाधी दी जाती है, जो राधा स्वामी मन्त्र का वास्तविक लक्ष्य है। इसी को अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। इसी का उल्लेख हमारे सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में स्पष्ट रूप से वर्णित है:-

"ज्ञनान्'ऽ गंगायि मंज़ य'म्य' श्रान क्वर।
तीर्थ सु क'र्यतन या मत्ऽ क'र्यतन।""

निर्लीप ख्यथ च्यथ युस रूद दिथ ह्यथ।
व्रथ सु द'र्यतन, या मत्ऽ द'र्यतन।।""

सर्ऽ क्वर य'म्य' पान दु'ऽर आत्म्ऽ ध्यान।।

ब्ययि ध्यान द'र्यतन या मत्ऽ द'र्यतन।।°°

कुनिय य'म्य प्वर कुनिय सर्ऽ क्वर।
शास्त्र सु प'र्यतन या मत्ऽ प'र्यतन।।°°

अप्रोक्ष ज्ञान तस टोठ्यव भगवान यस।
दयि नाव स्वर्यतन या मत्ऽ स्वर्यतन।।

प्रथ जायि ज्ञानूऽवान प्रावान निर्वाण।
का'शी सु म'र्यतन या, मतऽ म'र्यतन।।°°

गूव्यन्द्ऽ ग्यव सत् यादथव कुनीय कथ।
ज़गतस सु ख'र्यतन या मत्ऽ ख'र्यतन।।°°

श्री लल्लीश्वरी जी माता (लल्द्यद) का पद जो इसी भाव को प्रकट करता है वह इस प्रकार हैः-

"अकुय ओ३मकार युस नाभि धरे।
कुम्भीय ब्रह्माण्ड़स सुम गरे।।
अख सुय मन्त्र च़यतस करे।
तस सास मन्त्र क्या करे।।"

अर्थात् : जो साधक मन्त्र राज "ओ३मकार" नाभिस्थान में ध्यान पूर्वक धारण करता हुआ ओ३मकार मंत्र के माध्यम से रीचक, कुम्भक तथा पूरक को सम बनाकर ओ३मकार रूपी अनाहत् ध्वनि कुण्ड़लिनी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाता है। केवल इसी ब्रह्म वाचक मंत्र जाप द्वारा आध्यात्मिकता का सेतु बाँधकर "संवित" शक्ति का स्वरूप प्रकटाता है उसे सैंकड़ों मंत्रों के जाप की क्या आवश्यकता है।

मण्डूकोपनिषद् का यह मंत्र इसी तथ्य का समर्थन करता हैः-

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।"

अर्थात् : ओ३मकार जो परमात्मा वाचक है मानो धनुष है, जीवात्मा बाण है तथा ब्रह्म उस का लक्ष्य मानना उचित है।

कठोपनिषद् का यह पद भी इसी के बारे में उल्लेखनीय है:-

"एतत् आलम्बनं श्रेष्ठं,
एतत् आलम्बनं परम्।
एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा,
ब्रह्म लोके महीयते।।"

अर्थात् : इस मंत्र राज का आसरा सबसे श्रेष्ठ है। इसी का सहारा लेकर परम् तत्त्व की पहचान हो सकती है। इस रहस्य को जानकर जो साधक श्रद्धा, भक्ति और प्रेम पूर्वक इस पर विचार व मनन करता है और इसी मंत्र जाप पर निर्भर रहता हुआ अजपा जाप का अनुभव प्राप्त करता है वह ब्रह्मलोक में महिमा व आनन्द का भाजन बनता है।

अब इसके अभ्यास के बारे में उल्लेख करना भी आवश्यक है जो इस प्रकार से वर्णित है :-

10. अभ्यास का विधि विधान

पहले पहले शुद्ध आसन पर बैठ कर सिर, गर्दन और धड़ को एक ही सीध में रख कर सिद्ध आसन धारण करके त्रिकुटि अर्थात् भ्रूमध्य में अथवा अनाहत् अर्थात् हृदयस्थल में सत्गुरु के प्रति अगाध प्रेम रखकर एक निष्ठ चित होकर नेत्र बन्द करके ध्यान मग्न होते हुए सत्गुरु मंत्र का जाप करना होता है। कुछ समय के

निरन्तर अभ्यास द्वारा स्थूल एकाग्रता सिद्ध होने लगती है। इसके सिद्ध होते ही सूक्ष्म-एकाग्रता बनने लगती है। सूक्ष्म एकाग्रता के बनते ही जीवन मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है। जो मनुष्य के जन्म तथा योग साधना का लक्ष्य एवं उद्देश्य है। यदि मनुष्य में संतोष का अनुभव होने लगे, सहन शीलता आ जाए, मन आनन्द से भर जाए, मधुर वाणी, हल्कापन, आत्म-विश्वास व आत्म निर्भरता, स्पन्धन की रेखा, शरणागत भाव, संसार के प्रति उदासीनता का भाव तथा सत्गुरु विश्वास प्रतीत होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग में कुछ कुछ उन्नति कर रहा है और उस पर सत्गुरु की कृपा दृष्टि होने लगी है। यही लक्ष्ण हैं जिससे पता चलता है कि जीवात्मा पर-ब्रह्म परमात्मा, परमानन्द परम् धाम, सच्चिदानन्द गण, सत् लोक परम् तत्त्व की ओर अग्रसर होते जा रहा है।

11. सहज समाधी की व्याख्या।

सूक्ष्म एकाग्रता ही सहज समाधी का मूल आधार होता है। श्री विष्णु पुराण में इसके बारे में इस प्रकार वर्णित हैं :-

"मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य फिर मन से परे कल्पना हीन, ध्याता-ध्यान-ध्येय के भेद से रहित उस परम् तत्त्व परमेश्वर का जो स्वरूप ग्रहण किया जाता है उसे ही सहज समाधी कहते हैं।

ऐसा ही कावषेय गीता में भी वर्णित हैं:-

"योगी सहज समाधी द्वारा सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प को त्याग कर मन को अपने आत्मा में निष्चल रूप से

स्थिर करके उस अग्नि के समान जिस का ईंधन जल चुका हो शान्त स्वभाव वाला बन जाता है।"

श्रुति भी इसके बारे में कहती है कि :

"जो योगी आत्मा में स्थित होकर उस परब्रह्म को ही देखते हैं उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है।"

ब्रहद् आरण्यक श्रुति में इसका वर्णन इस प्रकार है:

"भोक्ता (जीव), भोग्य (जगत), प्रेरक (ईश्वर) तीन प्रकार से कहा हुआ यह पूर्ण-ब्रह्म जानने वाला योगी सहज समाधी द्वारा शान्ति को प्राप्त करता है।"

इसी भाव की अभिव्यक्ति परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से स्पष्ट है:-

"लोल्ऽ पोशन क'र्यै पोश्ऽ ब'न्यी।
निस्त्रयगुणी शिवस करू पूज्य।।

पूज़ा पूज़ि पूज़ख सोरूय छु पान'य।
पानय पानस छु पूज्य करान'य।।
सोरूय सुयछु स'ज्य वो'ग्ऽनी।।°°

ईकवट्ऽ रठ मन ता'य ब्यथि प्राण।
सोरूय शिविय त्ऽ कुनि नो शैतान।
गूव्यन्दो पानस द्युव व'ञ्ययी।।°°

सहज समाधी के लिए ऐसी धारणा बनानी होती है तथा चिन्तन करना होता है कि :

1. **वह महः है।**

अर्थात् वह महत्त्व गुण वाला है। इसी भाव से ब्रह्म की उपासना करनी होती है अर्थात् ध्याण धारण करना

होता है। ऐसा करने से उपासक निश्चित ही महान् बन जाता है।

2. वह मनः है।

संकल्प-विकल्पात्मक अन्तः करण का नाम मन है। मनन का नाम मन है। इस को वश में करने की उपासना से उपासक मनन शील अर्थात् मनन में सामर्थ्यवान बन जाता है।

3. वह नमः है।

इस प्रकार नमन द्वारा ब्रह्म की उपासना करने से साधक में शरणागत भाव आता है और वह विनम्र स्वभाव वाला बन जाता है। इस प्रकार वह सत्गुरु की कृपा द्रष्टि का पात्र बनता है।

4. वह ब्रह्म है।

इस भाव से ब्रह्म की उपासना करने वाला उपासक ब्रह्मात्म साक्षात्कार द्वारा ब्रह्मवान् बन जाता है। वह ब्रह्म के गुण वाला बन जाता है और उसे हर ओर से अपना ही स्वरूप दीख पड़ता है। जो सहज समाधी का मुख्य उद्येश्य होता है।

1. ब्रह्म ज्ञान पर एक दृष्टि।

भृगु मुनि जो ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का अभिलाषी होता है उसे वरूण देवता ब्रह्म ज्ञान के बारे में प्रस्तुत वाक्य कहता है :-

"अन्नं, प्राणं, चक्षु, श्रोत्रं, वाचं, मनः ब्रह्मस्थ स्रोतं।"

अर्थात् :- अन्न, प्राण, नेत्र, कान, वाणी और मन ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्म ज्ञानी साधक सदा ही उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते, बोलते-सुनते ब्रह्म निष्ठ होता है। उसे हर

ओर से ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है।

इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के बारे में एक और वाक्य वर्णित है:-

"उत्पति, स्थिति तथा लय काल में प्राणी जिसकी तद्रूपता ग्रहण करता है वही उस ब्रह्म के लक्षण हैं।"

ऐसे साधक ब्रह्म नाड़ी में स्थिति पाकर आत्म आनन्द के पात्र बनते हैं और ब्रह्मात्म साक्षात्कार के द्वारा तद्रूपता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम् तप है। यही सब धर्मों का सार है और सबसे ही उत्कृष्ठ है और यही ब्रह्म ज्ञान का स्रोत है।

इसी बारे में भगवान कृष्ण भगवद्गीता में अर्जुन से कहते हैं :-

"तेषां सतत् युक्तानां
भजतां प्रीति पूर्वकं।
ददामि बुद्धि योगं तं
येन माम् उपयान्ति ते।।"

अर्थात् : उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए और प्रेम पूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्व ज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार दूसरे एक इस श्लोक में इसी भाव का वर्णन इस प्रकार है :

"तेषां एव अनुकम्पार्थम्
अहं अज्ञानजं तमः।
नाशयामि आत्म भावस्थो
ज्ञान दीपेन भास्वता।।"

अर्थात् :- उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही मैं भक्तों के अन्तः करण में स्थित होकर, प्रकाशमय तत्त्व ज्ञान रूप दीपक द्वारा उनके अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ।

इससे यही स्पष्ट होता है कि परमात्मा रूपी अग्नि जो है वह अविद्या अर्थात् अज्ञान रूपी देह अध्यास तथा उसके कार्य प्रभाव को दग्ध करने वाला है अर्थात् नष्ट कर देता है। इसी से ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है जो विशेष्तया गुरु कृपा पर आधारित है।

12. अन्तर आत्मा की परिभाषा।

शिवधर्मोत्तिर में योगियों की स्थिति आत्मा में ही दिखाई गई है जो इस प्रकार से वर्णित है:-

"योगीजन शिव का दर्शन आत्मा में ही करते हैं, प्रतिमओं में नहीं। जो मनुष्य आत्मस्थ तीर्थ को त्याग कर बाह्य तीर्थ आदि में ही आसक्त रहता है वह मानो अपने हाथ का महा रत्न गिराकर काँच के टुकडे ढूँढ़ता फिरता रहता है। इसी प्रकार जो मनुष्य आत्मा में स्थित शिव का परित्याग कर बाह्य शिव का पूजन करता है वह मानो हाथ का ग्रास गिरा कर केवल हथेली चाटता रहता है।"

इसका अभिप्राय यह नहीं कि तिर्थ आदि का महत्त्व ही नहीं है। इनका भी अपना महत्त्व होता है परन्तु इनमें आसक्त नहीं होना होता है। यह ऐसी ही बात हैं कि जिस प्रकार अन्धा आदमी उद्धय हुए सूर्य को नहीं देख सकता है उसी प्रकार ज्ञान नेत्रों से रहित होने के कारण मानव सर्वत्र विद्यमान शान्त स्वरूप शिव

का दर्शन नहीं कर पाता है। योग साधना का एक मात्र लक्ष्य केवल ब्रह्मात्म साक्षात्कार से है जो बाहिर कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता है। केवल अन्तर में ही ज्ञान नेत्रों के खुलते ही हो सकता है। इसी अन्तर आत्मा की अभिव्यक्ति उपनिषद् के इस पद से स्पष्ट है:-

"अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये [1]संनिविष्टः। [2]हृदामन्वीशो [3]मनसाभिक्लृप्तो य [4]एतद्विदुरमृतास्ते[5] भवन्ति।।"

1जड़ा हुआ स्थित है 2खोज करने पर 3सुरक्षित 4ज्ञानी 5अमर हो जाते हैं।

अर्थात्:- अन्तरात्मा हर एक मनुष्य के हृदय में अंगुष्ठनुमा पोरुष मात्र के रूप में जडा हुआ स्थित होता है, जो मानव के सूक्ष्माति सूक्ष्म आकार का प्रति बिम्ब सा हृदय की खोज द्वारा तथा मन से सुरक्षित रूप से गुरु कृपा के आधार पर सूक्ष्म-एकाग्रता पाकर पहचाना जाता है। जो इस स्वरूप के स्पष्टी करण के ज्ञाता बनते हैं वे सदा सदा के लिए अमर हो जाते हैं।

स्वामी जी महाराज इसी के बारे में अपने सत्गुरु महाराज से विनती करते हैं :-

"अन्तर आत्मा म्योन च़िय
भासुम तृऽ कासुम सा'ऽस्थ द्वुय।

च़िय च़िय वुछूत यी शर म्य छुम
थलि थलि वुछुन भगवान दिम।।
बोजुम दयालो सत्गुरो
प्रसन्न बनिथ यी दान दिम।।"

इसे ही अपरोक्ष ज्ञान की उपाधि दी जाती है। जो

अन्तर आत्मा के प्रकट होने से प्राप्त होता है।

13. अपरोक्ष ज्ञान।

अपरोक्ष ज्ञान का तात्पर्य ब्रह्मात्म-साक्षात्कार से है। इस का आधार गुरु कृपा तथा गुरु-शब्द ही होता है। इस के प्राप्त होते ही भय की निवृति होती है अर्थात् अभय पद मिल जाता है। ऐसी अवस्था में साधक सदा ही स्वरूप-निष्ठ रहता है। इसे जीवन-मुक्ति की उपाधि दी जाती है। जो योग साधना का मुख्य ध्येय होता है। अपरोक्ष ज्ञान मानो कुआँ खोदना जैसा है। जो पहले से ही धरती के नीचे विद्यमान होता है। परन्तु जब तक इसको ढ़के हुए कङ्कर-मिट्टी आदि खोदने से निकाले नहीं जाते हैं तब तक पानी निकलना कठिन होता है। इसी प्रकार नित्य, सत्य, परात्पर, शाश्वत् ब्रह्म की स्थिति अपने में ही होती है परन्तु उसे जब तक उद्योग तथा दृढ़ निश्चय द्वारा देह अध्यास व माया-पर्दा रूपी मिट्टी-कङ्कर आदि हटाया नहीं जा सके तब तक अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः यह स्थायी सच्चित् आनन्द होता है। इसके विपरीत परोक्ष ज्ञान मानलो टैंकी को पानी से भरने के समान होता है। जो शाश्वत्, नित्य तथा परात्पर, सनातन सत्य नहीं होता है। थोड़ी सी धूप से सूख जाता है और फिर से भरना होता है जो मान्सिक प्रक्रिया ही हाती है, अर्थात् यहाँ तक मन तथा बुद्धि का साथ होता है।

इसीके बारे में पूज्य स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज का यह भजन उल्लेखनीय है :-

"गछि तेलुन पनॖऽनिस पानस

मेल गूव्यन्द् सृऽत्य भगवानस।।°°

गुर्ऽ शब्द छुय व्यमानूई।
संत तथ प्यठ गयि वुफानूई।
कर् ज़ानूई तृऽ खस व्यामानस।।°°

गुर्ऽ शब्दूई ज़ानुन रथई।
गुर् चलावन वोल अथूई।
स्यज़ छि वथूई तृऽ प्राव निर्वाणस।।°°

गुर्ऽ शब्द वज़न छुये।
अमि वृत्ये साध संत गये।
बोज़ हिन्ये आयस्थानस।।°°

बन समन्दर गूव्यन्दो।
च्यन समन्दर गूव्यन्दो।।
वन समन्दर यक्सानस।।°°

इसी की व्याख्या पञ्चसतवी के चतुर्थ 'अम्बस्तव' में इस श्लोक से स्पष्ट है :-

"आनन्द-लक्ष्णम्-अनाहत नाम्नि देशे
नादात्मना परिणतं तव रूपम ईशे।
[1]प्रत्यङ्-मुखेन मनसा [2]परिचीयमानं
[3]शंसन्ति-नेत्र-सलिलैः पुलकैश्च धन्या।।"

1प्रधान इन्द्रिय 2अनुभव किया हुआ 3प्रशंसा

अर्थात् :- जो योगी सहस्रार चक्र में नाद-रूप आनन्द स्वरूप शब्द के रूप में प्रकट हुए आपके निर्मल स्वरूप का शब्द के रूप में प्रधान इन्द्रिय (मन) से अनुभव करते हैं, वे भक्त पुल्कित होकर आनन्द अश्रु धाराओं को बहाते हुए आपकी प्रशँसा (अस्तुति) करते हैं, ऐसे

भक्त भाग्यशाली हैं।

यहाँ पर पञ्चस्तवीकार का शाम्भवी अवस्था की ओर संकेत है। जब साधक शाम्भवी अवस्था में पहुँचता है तो वह परमानन्द का अनुभव करता है। इस आनन्द का लक्ष्ण नेत्रों में आनन्द के आसुँओं का भर आना, शरीर का पुल्कित होना, रोम-रोम में रोमाञ्चित होना, वाणी का गद् गद् होना आता है।

इसी प्रकार एक ओर इसी 'अम्बस्तव' के श्लोक में वर्णित है:-

"व्योमेति बिन्दुर-इति नाद इतीन्दुलेखा
रूपेति वाक्-भवतनः इति मातृकेति।
निष्यन्दमान-सुखबोध-सुधास्वरूपा
विद्योतसे मनसि भाग्यवतां जनानाम्।

अथार्त : व्योम (आकाश स्वरूप वाली सर्वत्र व्याप्त) रूप में बिन्दु (ब्रह्म के रूप में), नाद रूप में, चन्द्रकला रूप में, सरस्वती रूप (वाणी) में, मातृका (अ से क्ष तक) रूप में द्रवीभूत-आनन्द ज्ञान तथा अमृत रूप वाली संवित शक्ति भाग्यशाली भक्तों के मन में ऐसे ही स्वरूपों में प्रकट होती है।

यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि शरीर के अन्दर स्वाभाविक रूप से अनाहत ध्वनि चलती रहती है जो योग अभ्यास के द्वारा सुनने में आती हैं। यह ध्वनि शब्द ब्रह्म का ही व्यापार होता है। योग साधना का मुख्य लक्ष्य इसी अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से है। ब्रह्म जो सत्य अर्थात् निर्विकार है, ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ है तथा अनन्त अर्थात् अविनाशी है उसी

के तद्रूप बनने का साधन ही योग अभ्यास है। इन्द्रियों के दमन, मन के शमन तथा वैराग्य भावना से ही विचारधारा को एक ही बिन्दु की ओर केन्द्रित करके उस 'इशान' (अन्तर आत्मा) अर्थात् ईश्वरी सत्ता की प्राप्ति का आभास होने लगता है और उस आबि कौंसर का चयन हो जाता है। चन्द्रम कला से शीतल सुधा की वर्षा होने लगती है जो सारे शरीर को शीतलता का आनन्द प्रदान करती है और मनुष्य को असीम आनन्द, शान्ति तथा प्रेम से भर देती है। यहीं अभय पद के लक्ष्ण हैं। जिस किसी को भी ऐसी अवस्था प्राप्त होती है वही ब्रह्म-ज्ञानी होता है। उसे अपना कल्याण तो होता ही है तथा दूसरों का भी कल्याण होता है जो उसके सम्पर्क में आते हैं। यहीं कारण है कि जैन धर्म के अनुसार उन्हें तीर्थङ्कर अथार्त् तीर्थ बनाने वाले की उपाधी दी जाती है। अवश्य ही जहाँ जहाँ ऐसे महात्माओं के चरण पड़ते हैं वहाँ तीर्थ होता है। परन्तु इतना होते हुए भी ऐसे महानुभावों में स्वप्ने में भी कभी अहंकार की रेखा लेश मात्र भी नहीं होने पाती है।

14. अहंकार तथा उसका प्रभाव।

अहंकार से तात्पर्य अपनी ही नज़र लगने से है। जब मनुष्य में ऐसा भाव उत्पन्न होने लगता है कि "मैंने यह कमाल किया है, मैंने वह कमाल किया, मैंने ऐसा चमत्कार कर दिखाया, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं वैसा कर सकता हूँ।" ऐसे ही भाव अपनी नज़र लगने के संकेत हैं जिस से मनुष्य में अहम् भाव उजागर होता है जिस का परिणाम उल्टा ही होता है और पतन का

कारण बन सकता है।

अतः शरणागत भाव ही सदा अपनाना होता है, जो परमेश्वर को प्यारा लगता है। उस समय अपने से उत्तम मनुष्यों को ध्यान में लाना होता है जिन्होंने आप से भी बढ़िया चमत्कार कर दिखाए होते हैं और साथ ही साथ ऐसा भास लाना होता है कि उस परमात्म देव के सामने मनुष्य की कोई साख नहीं है। जैसे स्वामी जी के एक भजन की इन पंक्तियों से स्पष्ट हैः–

"वाव नॖऽ अच़न पनॖऽ बर्गस
वावॖऽकुय ताकत छु क्याह।

पनॖऽ बर्ग छुनॖऽ अलन
च्याञि हुक्मय रो'स।।°°

ज़लि'र ज़ाल नय छ्यने
सासॖऽ बद्यन वीरनिय।

हा'ऽर ह्यमत वीरॖऽ बलन
च्याञि हुक्मय रो'स।।°°

इस प्रकार मनुष्य के बस की कोई बात नहीं होती है। साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि जहाँ शिव होता है वहीं शैतान भी घर कर बैठता है। शिव–पक्ष के साथ साथ शैतान–पक्ष भी होता है, जो शिव–पक्ष को उभरने में ऐसी ऐसी ही अनेकों बाधाएँ उठ खड़ा कर बैठता है जो मनुष्य के समझ की बस के बाहिर होती हैं। इस शैतान पक्ष को शुद्ध विवेक, सत्गुरु प्रेम, शरणागत भाव, वैराग्य, त्याग आदि से दूर रखा जा सकता है। इस के साथ ही कलिजुग का प्रभाव तथा काल–भगवान् भी काम करता रहता है जो मनुष्य को

घेरे में बाँध कर रखते हुए उस में अहंकार की भावना जागृत कर बैठता है। जिस से उसकी आध्यात्मिक तथा भौतिक विकास में बाधा पड़ती है। इस से बचने का एक मात्र उपाय सदा सत्गुरु के चरणों का ध्यान व नाम स्मरण ही है। जब तक पूर्ण शिवस्थिति तथा ब्रह्म विध होने की स्थिति अर्थात् अन्तर आत्मस्थ ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त न हो जाए तब तक माया, मोह, अंहकार, क्रोध, तृष्णा, ममता, राग द्वेष, वैर हसद आदि जो इस शैतान-पक्ष के अंग हैं मानव को सताते रहते हैं और उसे नीचे धकेलने में प्रयत्नशील होते रहते हैं। इनसे दूर रहना ही उचित होता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति संत कबीर-दास जी महाराज के इस दोहे से होती है :

"साधु कहावन कठिन है
लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखें प्रेम रस
गिरे तो चकना चूर।।"

अर्थात् : साधु की वृत्ति प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। यदि सफल हुआ तो यह-लोक भी बनता है तथा परिलोक भी संवर जाता है। अर्थात् आधिभौतिक व आध्यात्मिक उन्नति भी प्राप्त होती है। यदि ज़रा-सा भी अहंकार द्वारा हेरा फेरी हुई तो वह न यहाँ का रहता है न वहाँ का। अर्थात् उसका यह लोक भी गया तथा परलोक भी नष्ट होता है। इसी लिए सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी का यह उपदेश सच्चे साधक के लिए उल्लेखनीय है:

"अहंकारस क्रूर लुर्ऽ पारिय

सारिय वस्तु ज़ान।

पान च्योनुय शो'ख्ख तृऽ कोमल
नारायणूई रोज़।।००

गूव्यन्दृऽ सतु'रृऽ शब्दस स'ऽत्यी
रात्र द्यनई रोज़।।००

15. सच्चा साधक व परोपकार।

सच्चा साधक वही होता है जो हर प्रकार का स्वाद त्याग कर केवल परमार्थ का स्वाद ढूँढ़ता रहता है। संसार रूपी सागर में पद्म वत्त खिलता रहता है। सदा ही प्रसन्न चित्त, आनन्द मग्न तथा भगवत् भक्ति में विलीन रहता है। सदा ही प्रेम पूर्वक परोपकारी भाव से ओत प्रोत रहता है, चाहे यह लोक का हो चाहे परलोक का हो। सदा ही सबों का हित चाहता है। वह हर एक का शुभ चिन्तक होता है, चाहे मित्र हो चाहे शुत्र हो। उसे हर ओर से ईश्वर-स्वरूप ही दीख पड़ता है।

इसी के बारे में सन्त कबीर दास जी महाराज का यह दोहा उल्लेखनीय है:-

"तरवर सर'वर सन्त जन
चोथे बरसे मेह।
परमार्थ के कारणे
चारों धारैं देह।।००"

अर्थात् : वृक्ष, तालाब, साधू तथा वर्षा चारों परोपकार की भावना से ही शरीर धारण किए हुए हैं।

यही भाव कवि रहीम जी के इस दोहे में भी वर्णित है:-

"तरवर फल नहीं खात है
सरवर पीहि न पान।
कहि रहीम पर काज हित
संपति संचहि सुजान।।"

अर्थात् : वृक्ष अपना फल खुद नहीं चखता है। सरोवर (झील) अपना पानी स्वयं नहीं पीता है। इसी प्रकार साधु लोग दूसरों के उपकार के लिए ही शरीर धारण करते हैं।

यहाँ पर सत्गुरु स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के मुखर्बिन्द से सुनी हुई एक परोपकारी साधु की संक्षिप्त कहानी प्रस्तुत है :-

एक बार माता पार्वती जी शिव जी महाराज से भक्त सन्त जनों का दर्शन कराने के लिए विनम्र विनती करती है। शिव जी महाराज उसकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए उसे एक भक्त साधु के पास लेते हैं। वहाँ पर पार्वती जी उस साधु की परीक्षा लेने के लिए एक बिच्छु का रूप धारण करती है। वह भक्त साधु दरिया के किनारे पर स्नान करके सन्ध्या करने जब बैठने लगता है तो यह ब्विच्छु उस के निकट सामने से ही दरिया में डूबने को होता है। ज्योंही इस संत की दृष्टि उस बिच्छु पर पड़ती है तो परोपकारी स्वभाव वाला होने के कारण वह साधु उसे बचाने लगता है। बिच्छु को उठाते ही वह ब्विच्छु उस साधु के हाथ पर डंक मारता है और फिर दरिया में बहने लगता है। साधु उसे फिर बचाने के लिए उठाता है परन्तु बिच्छु उस को फिर ड़सता है और दरिया में बहने लगता है। इस प्रकार यह

क्रम जारी रहता है जब तक कि बिच्छु उस के सारे हाथ को ड़सता है। साधु इस पीढ़ को सहते हुए उस बिच्छु से ऐसा कहते हुए बचाता रहता है कि “यदि आप अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं भी अपना स्वभाव क्यों छोड़ दूँगा? आपका स्वभाव डंक मारना है मेरा स्वभाव परोपकार करना है।” इस पर माता पार्वती जी तथा शिव जी प्रसन्न होकर प्रकट रूप से दर्शन देते हुए उस साधु से कुछ माँगने को कहते हैं। साधु उनसे कुछ भी नहीं माँगता है केवल यह विनम्र प्रार्थना करता है जो परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज द्वारा रचित इस भजन में वर्णित है :-

“ही दीय च्याजि प्रेमय्ऽ ख्वत्ऽ क्याह।
सन्तय समागम्ऽ ख्वत्ऽ क्याह।।

मंगुन भगवन छुम म्य कीवल।
हृदय बो’द्ध म्याऽन्य करत्ऽ निर्मल।।
शीतल न्यष्कल्ऽ शम्ऽ ख्वत्ऽ क्याह।।°°

ज़न्म्ऽ ज़न्म्ऽ आसुन च्योनुय ब्ऽ दास।
ख्वश आस च्यि्ऽय ़च्वाप’री म्य बास।।
कास्तम मुह ठो’र भ्रम्ऽ ख्वतऽ क्याह।।°°

क्र्ऽ च्याऽयन च़रणन हुन्द ध्यान।
त’थ अन्दर लय क्र म्योन मन त्ऽप्राण।।
दिम दान सन्तय क्र’म्ऽ ख्वत्ऽ क्याह।।°°

क’रतम निर्वासन मन शान्त
द’फ प्रसन्न पा’ऽठ्य गूव्यन्द्ऽ बन शान्त।।
निर्भ्रान्त शान्त श’म्ऽ द’म्ऽ ख्वत्ऽ क्याह।।°°

इस प्रकार साधु लोगं निर्मल चित्त वाले स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं। सदा ही दूसरों का हित चाहते हैं। वह नियम पूर्वक-विधिवत् दृढ़ निश्चय व आस्था रख कर अभ्यास में झुटे रहने के साथ साथ हर क्षण व हर पल ईश्वर स्मृति में विलीन रहते हैं। जिस से उनका अपना जन्म सफल होने के साथ साथ दूसरे अन्य लोगों का भी कल्याण होता है जो उन के सर्म्पक में आते हैं तथा जिन पर उनकी कृपा दृष्टि हुआ करती है। हमारे सत्गुरु हमाराज सदा यही कहा करते थे कि जो सत्गुरु से दीक्षा लेकर विधिवत बड़ी लगन से अभ्यास में झुटे रहते हैं उनका यह लोक भी बनता है तथा परलोक भी सुधर जाता है। उनको दाईमी मुक्ति प्राप्त होती है। उनमें परोपकारी भाव उम्मड़ आता है। उनका सबसे श्रेष्ठ परोपकार जीवों पर कृपा दृष्ठि रख कर उनके जीवन का उद्धार तथा उन्हें आत्म-बोध कराने की चेष्ठा होती है जिस से उनको आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है। सत्गुरु महाराज स्वामी गोविन्द कोल जी तथा पंड़ित दयाल महात्मा पृथ्वीनाथ जी महाराज का भी ऐसा ही आशिर्वाद हुआ करता थाः-

"मालिक आपको परिवार सहित सकुशल प्रसन्न रखें। आप का यह लोक तथा परलोक भी बने। आपको दाइमी मुक्ति प्रदान हो तथा आपको और आपके सम्पर्क में आने वालों का वास्तविक कल्याण हो।"

17. जीवित गुरु की आवश्यकता।

एक अभ्यासी साधक के लिए जीवित सत्गुरु का होना अति आवश्यक है। जैसे कहा भी गया है :

"गुरु बिना गति नहीं।
प्रीति बिना पति नहीं।।"

यह तो जीवित सत्गुरु ही हैं जो मनुष्य का मार्ग दर्शक बनकर उसे माया, मोह तथा अज्ञान रूपी अन्धकार से निकाल कर उस में सद् गति, सद् बुद्धि तथा प्रीति का सार प्रकटाता है।

एक बार एक जिज्ञासु संत कबीर साहब के पास इसी संशय से जाता है कि गुरु की आवश्यकता क्या है? उस समय वह कपड़े सी रहा था। थोड़ा सा अंधेरा था। उसकी सूई गिर जाती है। कबीर दास जी उठकर बाहिर सूई ढ़ँढ़ने के लिए निकलता है। वह महाशय भी बाहिर निकल कर आश्चर्य चकित होकर उसे पूछने लगताा है :

"महाराज, सूई तो अन्दर कमरे में गिर पड़ी तो यहाँ बाहिर क्यों ढूढ़ेते हो?" इस पर कबीर दास जी महाराज यह दोहा प्रस्तुत करता है :-

"वस्तु कहीं, खोजे कहीं,
आवै किहि विधि हाथ।
कहि कबीर तब पाइए;
जब भेदी लीजे साथ।।"

अर्थात : - सार वस्तु कहीं होता है और मनुष्य उसे कहीं दूसरी ओर ही खोजता है। जब तक किसी रहस्य ज्ञाता का साथ न हो तब तक उसे पाना कठिन यहाँ तक कि असम्भव ही है। अतः कामिल पहुँचे हुए सत्गुरु ही उस सार तत्त्व के पहचानने में सहायक होता है।

इस प्रकार संत कबीर दास जी महाराज अमली

तोर उस के संशय का समाधान करता है कि सत्गुरु के बिना ईश्वर की पहचान ऐसी ही बात है कि ईश्वर कहीं होता है और मनुष्य उसे कहीं और ही ढूँढ़ते फिरते हैं। जो कामिल तथा पहुँचा हुआ सत्गुरु होता है वही मनुष्य को ईश्वरीय पद्धति तक पहुँचा सकता है। सत्गुरु के बिना नाम मिलना कठिन है और नाम के बिना पार पाना असम्भव है। ईश्वर जो घट घट वासी हैं और अन्तः करण में निज स्वरूप की सूरत में प्रतिबिम्ब बनकर वास करने वाला होता है, लोग उसे बाहिर ढूँढ़ते फिरते रहते हैं। सच्चा सत्गुरु ही सच्चा मार्ग दर्शक होता है। गुरु वाणी में भी यही भाव प्रकटाया गया है:-

"सरब रोग का अउखदु नामु।।"

अर्थात् :- गुरु नानक साहब का यही फर्माना है कि सभी रोगों का एक मात्र औषधि गुरु मन्त्र ही है चाहे शारीरिक हो, मान्सिक हो अथवा सांसारिक हो।

इस प्रकार उनका भी यही फर्माना है कि जब तक हम देह स्वरूप सत्गुरु से नाम लेकर उनके आदेश अनुसार अभ्यास नहीं करते तब तक वह शब्द प्रकट नहीं होता अर्थात् वह कैवल्य पद प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः इस ऊपर की वाणी में गुरु मंत्र की ओर संकेत है कि सत्गुरु शब्द सारे रोगों की औषधि है। यही भाव इस वाणी में भी प्रकटाया है :-

"इहु भव जलु, जगतु
सबदु गुरु तरिए।
अंतर की दुबिधा अंतरि जरिए।।"

अर्थात् :- इस संसार रूपी सागर से तरने के लिए दो

ही उपाय हैं – एक तो सत्गुरु तथा दूसरा शब्द। जो महात्मा स्वयं अन्दर जाता है वही हमें भी अपने साथ अन्दर ले जा सकता है। जितने भी महात्मा अन्दर गए हैं, वह नाम अथवा शब्द के अभ्यास द्वारा ही गए हैं। गुरु के बिना 'शब्द' नहीं मिल सकता और 'शब्द' के बिना आन्तरिक पट नहीं खुल सकते हैं। उनका कथन है कि मुक्ति देने वाला पूर्ण गुरु बड़े श्रेष्ठ भाग्य से ही मिलता है। इसी भाव की पुष्टि एक दूसरी वाणी में इस प्रकार से स्पष्ट है :–

"निरभउ सतिगुरु है रखवाला।
भगति परापति गुरु गोपाला।।

अर्थात :– कामिल सत्गुरु हर मंज़िल पर शिष्य का साथ देता है, कदम–कदम पर उसकी संभाल करता है। इस भाव को संत कबीर दास जी इस दोहे में इस प्रकार प्रकट करता है :–

"काँचे भाँड़े से रहे
ज्यों कुम्हार का नेह।
भीतर से रक्षा करे
बाहर चाई देह।।"

अर्थात् :– जिस प्रकार कुम्हार बहुत ध्यान व प्रेम से कच्चे घड़े को चपाते मारता है और भीतर से सहारा देता है। इसी प्रकार गुरु सदा ही शिष्य का ध्यान रखता है।

यह तो केवल सत्गुरु ही हैं जो हमें सहज अवस्था प्राप्त करा कर हरिः के गुण गान करने के योग्य बना देता है। वे ही प्रेम और सेवा मार्ग से अपने शिष्यों को अन्तिम मंजिल अथवा धुरधाम तक पहुँचा सकता है।

गुरु भक्ति द्वारा ही हमारे अहम् भाव का नाश होता है। इसी भाव को संत गुरु नानक साहब के इस वाणी से भी स्पष्टता मिलती है :-

"बिनु सतिगुर भगति न होवई
नामि न लगै पिआरु।
जन नानक नामु अराधिआ
गुरु कै हिति पिआरु।।"

अर्थात : - गुरु नानक साहब जी महाराज फर्माते हैं कि सत्गुरु के बिना भक्ति नहीं हो सकती है और न 'नाम' के प्रति प्रेम ही उत्पन्न हो सकता है। 'नाम' जाप का अभ्यास गुरु के प्रति आगाध प्रेम, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा ही हो सकता है।

इसी से यह स्पष्ट होता है कि इस संसार में जीवों को तारने के लिए गुरु उनके अन्दर सोई हुई आत्म-शक्ति को जगाने तथा उनको परम् पिता परमात्मा से मिलाने के लिए आते हैं।

अतः वास्तविकता तथा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सत्गुरु का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। यही भाव सत्गुरु महाराज स्वामी गोविन्द कोल जी के इस भजन से स्पष्ट है :-

हा ज़ुव्ऽ सत्गो'र्ऽ च़रणार्ब्यन्दन।
कोन्ऽ तस वन्दन ज़ुव तय जान।।

दो'ध्ऽ रो'स थ्ऽन्य कति नेरि, पो'न्य मन्दन।
पुरुष्ऽ रो'स त्र्'ऽयि वु'ऽपृद्या सन्तान।
तिथ्ऽ गो'रनिय रो'स न्याय नो अन्दन।।°°

क्र्ऽय क्ऽर गो'र्ऽ रो'स म्ान्य यस वो'न्दन।

तस क्रंजिल्यन पो'ञ्य सारुन गछ़ान।।
म्वकलि कति निशि मायायि फन्दन।।°°

गो'र्ऽ सीवा क'र बन निर्बन्धन।
गो'र्ऽ सीवा यूग तफ ज़फ ज़ान।।
खोच़ मो व्यवहार्ऽ भायन बन्धन।।°°

गो'र्ऽ व्यज़ पूर्वक क'र गूव्यन्दन।
सहजूऽ क्र'य राजूऽयूग य'थ वनान।।
क्वर अनुग्रह ईशन दीन्ऽ बन्धन।।°°

वेद व्यास ऋषि के पुत्र शुकदेव जी महाराज को जन्म से ही दिव्य ज्ञान था, परन्तु गुरु बिना वे आन्तरिक आत्म मण्ड़लों में नहीं जा सके। अतः वास्तविकता से वञ्चित रहे। फिर वास्तविक आत्म शुद्धि के लिए ही राजा जनक को अपना गुरु बनाना पड़ा। इसी भाव का वर्णन संत कबीर दास जी के इस दोहे से स्पष्ट है :

"गर्ग योगेश्वर गुरु बिना लागा हर का सेव।
कहे कबीर वैकुण्ठ से फेर दिया शुकदेव।।

अर्थातृ :- यदि किसी ने गुरु धारण नहीं किया और जन्म से ही हरिः की सेवा में लगा रहा चाहे वह योगेश्वर ही क्यों न हो तो भी उसे शुकदेव की भाँति वैकुण्ठ से वापस गुरु धारण करने के लिए लोटना पड़ता है।

नारद मुनी जी जो एक उच्च्च कोटि के ऋषि हुए हैं और जिनको देवताओं का मन भी कहा गया है, उन्हें भी एक बार विष्णु के दरबार में प्रवेश करने से रोक दिया गया था क्योंकि उनका कोई गुरु नहीं था। अतः

उन्हें भी अन्त में गुरु धारण करना पड़ा था।

जब 'आत्मा' 'शब्द' के साथ जुड़ जाता है, तभी सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु बिना गुरु के शब्द प्राप्त नहीं हो सकता। सत्गुरु के बिना कोई सत्संग नहीं हो सकता है तथा शब्द के बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकता। गुरु वाणी में इसकी स्पष्टता इस प्रकार हुई है:-

"बिनु गुरु दीखिआ
कैसे गिआनु।।"

अर्थात् :- गुरु-दीक्षा के बिना ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

परमात्मा जो अपने आप में अत्यन्त सूक्ष्म, पूर्ण चेतन तथा अति निर्मल है, उस से मिलने का साधन उसका सच्चा नाम अर्थात् अनहद शब्द है। जीवों को उस चेतन शब्द से जोड़ने के लिए परमात्मा को मनुष्य का चोला धारण करना पड़ता है जो नर रूपी नारायण होता है। इस प्रकार गुरु परमात्मा है और परमात्मा ही गुरु है। इन दोनों में कोई भेद नहीं है। जीवित सत्गुरु शनैः शनैः नर रूपी सत्गुरु से नारायण रूपी सत्गुरु का स्वरूप धारण करता है और गुरु-मुखी मानव का साथ अन्त तक निभाता है। दुःख सुख में सदा ही उसका सहायक स्वरूप बनता है। अर्थात् वह प्रकाश-रूपी सत्गुरु बनकर सदा ही कदम कदम पर उसका कल्याण कर बैठता है। प्रकाश-रूपी सत्गुरु का प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होना ही ब्रह्मात्म-साक्षात्कार होना होता है। इसी ब्रह्म-स्वरूप को पाकर मानव ब्रह्म-ज्ञान द्वारा कैवल्य

पद की प्राप्ति से आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। यह सब गुरु कृपा पर ही आधारित होता है। यही भाव इस श्लोक में वर्णित है :-

"अखण्ड मण्डलाकारं
व्याप्तं येंन चराचरम्।
तत् पदं दर्शितं येन
तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

अर्थात् :- जिस सत्गुरु ने अपनी कृपा दृष्टि द्वारा उस परम् ब्रह्म परमेश्वर के पवित्र चरणार्बिन्दों का दर्शन करवाया जो समस्त सृष्टि के चर तथा अचर वस्तुओं में विद्यमान हैं उस सत्गुरु को मेरा शत-शत प्रणाम हो।

इस प्रकार गुरु की महानता अपरम्पार है। गुरु कृपा का पात्र बनकर ही मनुष्य कर्म-चक्र से छूट जाता है। जिसका आधार "आत्म-ज्ञान की पहचान" ही है।

००————००

ॐ R.S.

द्वितीय खण्ड़

“गुरु ज्ञान व. आत्म ज्ञान, ओ३मकार व राधा स्वामी शब्द तथा कर्म विभाग”

ॐ R.S.

1. 'गुरु'–शब्द की परिभाषा।

'गुरु' शब्द दो अक्षरों के मेल से बना है। यह दो अक्षर हैं 'गु' तथा 'रू'। 'गु' का अर्थ है घोर अन्धकार और 'रू' का अर्थ है रोशनी। अर्थात् जो घोर अन्धकार से रोशनी की ओर ले जाते हैं वही गुरु कहलाते हैं। सच्चा गुरु वही होता है जो सहज मार्ग दिखा कर शिष्य को अज्ञान रूपी अन्धकार से निकाल कर ज्ञान रूपी रोशनी की ओर ले जाता है। सहज मार्ग वह सच्चा आध्यात्मिक मार्ग है जिस पर चल कर मानव का जन्म सफल हो जाता है। यह तो केवल सच्चा कुँजी वाला सत्गुरु ही है जो इस जन्म को सफल बनाने में सहायक बनता है जो चुरासी लाख जोनियाँ काट कर बड़ी कठिनाइयाँ झेलते झेलते किसी पुण्य कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होता है। सच्चा सत्गुरु मनुष्य का रहबर बनकर अन्त तक साथ निभाता है। यदि यह मनुष्य जन्म दाइमी मुक्ति प्राप्त करने में सिद्ध न हो सके तो व्यर्थ में ही यह जन्म गँवाया जाता है और फिर से वही लम्बा सफर काटना पड़ता है जो असह्य आपदाओं तथा विपत्तियों से भरा पड़ा हुआ होता है। अतः यह मनुष्य जन्म पाकर मानव का वास्तविक लक्ष्य इस जन्म को सफल बनाना होना चाहिए न कि विषय वासनाओं के पीछे लग कर व्यर्थ जन्म नष्ट करना।

संत कबीर दास जी महाराज का यह दोहा इसी भाव को व्यक्त करता है:–

"रात गँवाई सोय के
दिवस गँवाया खाय।
हीरा जन्म अमोल था
कोढ़ी बदले जाय।।"

अर्थात् :- रातें तो सोने में बिताई और दिन विषय वासनाओं के पीछे लगने से व्यर्थ में ही नष्ट किए। परन्तु गुरु से दिव्य ज्ञान प्राप्त न करने के कारण इस हीरे के समान अन्मोल जन्म का कोढ़ी का भी मूल्य न रखा।

यह तो केवल पूर्ण पहूँचा हुआ सत्गुरु ही हैं जो मानव को सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध होता है, अज्ञान रूपी अन्धकार से निकाल कर ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर ले जाता है और इस अनमोल जीवन को मुल्यवान बनाने में उसका मार्ग दर्शन करता है। अतः ईश्वर से सदा यही प्रार्थना करनी होती है :-

"सहनौ अवतु। सहनौ भुनक्तु!
सह वीर्य करवावहे!
तेजस्विना वधीतमस्तु!
मा विद्विषा वहे!
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अर्थात् :- हे परम् पिता परमात्मन्! मेरी तथा मेरे गुरु की साथ-साथ रक्षा कर। हम दोनों का साथ-साथ पालन कर। हम दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें। हम दोनों विद्या में तेजस्वी हों। हम दोनों कदापि द्वेष न करें। हम दोनों परस्पर प्रेम से रहें तथा तीनों प्रकार के

कष्टों से बचे रहें। त्रिविध ताप की शान्ति हमें प्रदान करें।

इसी के बारे में हमारे सत्गुरु हमाराज स्वामी गोविन्द कोल जी का यह भजन प्रस्तुत हैं :-

"गुरु शब्दय स़ीत्य हुशियार गव यि म्योनुय आत्मा।
लय विक्षप्त नय रूज़ क्वशा रूद रसा स्वाद नय।।°°

संकल्प विकल्प नय रूद
मन तऽ प्राणिय लय सपुद।
मन बे मन गव च़्यत् अच़्यत्यि
ब्यन्द नय रूद नाद नय।।°°

परि पूर्ण परम्ऽ आनन्द
गूव्यन्दिय योत तोर।
सुय स्व प्रकाश शुऽद्ध च़ीतन
रूज़्य पथ प्रमाद नय।।°°

2. सांसारिक मोह माया के प्रति रुचि क्यों ?

वैसे तो देखने में आता है कि हर एक प्राणी मात्र इस जन्म को सफल बनाने की ओर कम ही ध्यान देते हैं। केवल साँसारिक विषय-वासनाओं के मोह जाल में फँस कर इसी के पीछे लगे रहते हैं। वास्तविकता की पहचान बहुत ही कम प्राणियों को आती है। असार संसार की रुचि सबों को होती है। मनुष्य देह को पाकर भी इसका लाभ नहीं उठाते हैं।

यह संसार प्रत्येक प्राणी को झूठे प्रलोभन देकर भ्रम में फँसा ड़ालता है और उसे वास्तविकता की कोई सुध नहीं रखता है। जो सच्चा होता है वह झूठा दिखाई देता है और जो झूठा होता है वह सच प्रतीत होने

लगता है। यह सब तो माया का ही प्रपंच होता है जो मानव को अज्ञान के अंधकार में डुबो देता है। बुरे कर्मों की ओर अधिक रुचि होने लगती है और सच्ची बातें कढ़वी लगने लगती हैं। साथ ही साथ काल भगवान् तथा कलजुग भी मुन्ष्य को सत् मार्ग से हटाने का प्रयत्न करते रहते हैं। जो सचेत रहते हैं वही इस लोक में भी उन्नति करते रहते हैं तथा परमार्थ को भी सँवारते हैं। उनका यह लोक भी बनता है तथा परलोक भी सुधर जाता है। परन्तु जब वास्तविकता की ओर ध्यान दिया जाता है तो ऐसा साफ देखने में आता है कि यदि मानव बुराई की ओर झुट जाता है जैसे ताश-पते जुआ आदि खेलने में लग जाते हैं तो उसे न नींद सताती है, न भूख-प्यास का कोई ध्यान ही रहता है, न धन-सम्पत्ति आदि खोने का ही कोई डर लगता है। मन ऐसे कर्मों के पीछे सदा ही उजागर रहता है जिन से उनका यह जन्म भी नहीं सुधर सकता है तो परलोक की बात ही क्या?। इसके विपरीत जब पढ़ाई करनी होती अथवा उपासना में दिल लगाना होता है जिस से मानव के जीवन के सुधरने की संभावना होती है तथा मनुष्य जन्म के सफल होने की संभावना होती है तो उसकी ओर कम ही मनुष्यों का मन लगता है। पहले तो मन लगता ही नहीं हैं, फिर भी यदि ज़ोर ज़बर्दस्ती से मन मान भी जाए तो नींद सताने लगती है। जो छात्र निंद्रा पर नियंत्रण रख कर अध्ययन में सज्जग रहते हैं वही अच्छे अंक पा कर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं। परन्तु जो परिश्रम से जी चुराते हैं अथवा कल पर छोड़ते हैं उनका उत्तीर्ण होना भी असम्भव बनता है।

वह ज्यों के त्यों ही रह जाते हैं। फिर उन्नति करने की बात ही क्या करनी। यही बात परमार्थ के मार्ग में भी है। जो लगन तथा श्रद्धा से सच्चे कुञ्जी वाले गुरु की शरण में आकर दृढ़ निश्चय के साथ अभ्यास में झुट जाते हैं उनका अवश्य ही जन्म सफल होता है जो मनुष्य के जन्म धारण करने का असली उद्देश्य होता है।

इसी के बारे में संत कबीर दास जी महाराज का एक दोहा उल्लेखीय है :–

"केला तब न चेतिया जब ढ़िंग मारी बेर।
अब के चेते क्या भयो जब कांटन लियो घेर।।"

अर्थात् :– जब तक यौवन की मस्ती होती है तब तक विषय वासनाओं में मनुष्य फँसा रहता है। जब बुढ़ापा आता है तब समझ आने पर पछताने लगता है। पर उस अवस्था में पहुँच कर जीव की सारी शक्तियाँ क्षीण हुई होती हैं और वह कुछ करने के योग्य ही नहीं रहता है। इसी पर यह कथन भी है :–

"फिर पछताए क्या होत है।
जब चिड़याँ चुग गई खेत।।"

अर्थात् :– सब कुछ लुट जाने पर जीव हाथ ही मलता रहता है। फिर चाहते हुए भी कुछ नहीं कर पाता है। इसी लिए संत कबीर दास जी महाराज का यह कथन हैं।

"लूटि सकै तो लूट ले
सतनाम की लूट।
पाछे फिर पछताहुगे
प्राण जाहिं जब छूट।"

अर्थात् :- अरे प्राणी मात्र! भगवान् के नाम की लूट चारों ओर मची हुई है। यदि लेना चाहो तो ले लो। जब समय हाथ से निकल जाएगा अर्थात् जब प्राण छूट जाएँगें तो फिर पछताना पड़ेगा। फिर पछताने से क्या लाभ।

यही आशय इस श्लोक में भी स्पष्ट है:-

"सहसैव भुजंग पाशवान्
विनिगृहणाति न यावदन्तकः।
अभयं कुरु तावत् आशुमे
गतजीवस्य पुनः किं औषधैः।।"

3. भगवत् नाम की स्मृति के प्रति रुचि क्यों।

हमारी आत्मा सांसारिक विषय वासनाओं तथा माया-मोह के भ्रम-रूपी आवरणों से ढ़की हुई होती है। मनुष्य जन्म का असली उद्देश्य यही है कि आत्मा पर से इन आवरणों को हटा कर उसे परमात्मा में विलीन करने के लिए प्रयास करें। अर्थात् आत्मा-परमात्मा का एकीकरण ही मनुष्य जन्म का वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए। जिनको ऐसा करना व्यर्थ समय नष्ट करने के समान दिखाई देता है वे पशुओं की भाँति अस्सी-नब्बे वर्ष व्यतीत करके हाथ मलते रहते हैं। करोड़ पति होकर भी खाली हाथ ही इस संसार से चल पड़ते हैं। इसी के बारे में संत कबीर दास जी महाराज के निम्न लिखित दोहे प्रस्तुत हैं:-

(क) **"कबिरा यह तन जात है**
सकै तो राख बहोर।
खाली हाथों वे गये
जिनके लाख करोर।।"

अर्थात् :- ऐ कबीरा! यह तेरा तन जा रहा है अर्थात् व्यर्थ ही नष्ट होते जा रहा है। यदि हो सके तो इसे ईश्वर नाम के स्मरण की ओर लगा ले और सांसारिक विषय वासनाओं से इसे फेर ले। करोड़ों की सम्मपति जमाह करने वाले भी अंत में खाली हाथ ही चले जाते हैं।

(ख) "झूठे सुख को सुख कहैं
मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का
कुछ मुख में कुछ गोद।"

अर्थात् :- झूठे प्रलोभनों के पीछे पड़ कर लोग क्षणिक सुखों को ही सुख समझ बैठते हैं और उन्हीं में प्रसन्नता लेते हैं परन्तु वास्तविक स्थाई सुख की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं। यह जानते हुए भी कि यह सभी जीव महाकाल के ग्रास हैं कुछ तो उसने चबा ड़ाले हैं तथा शेष को चबाने की तैय्यारी है।

(ग) "पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा प्रभात।।"

अर्थात् : मनुष्य का जीवन पानी के उस बुलबुले की भाँति है जो देखते ही देखते घुल जाता है जिस प्रकार प्रातः काल का तारा देखते देखते ही छिप जाता है।

(घ) "साधु गांठि न बांधाई उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरिः खेड़े
जब मांगे तब देय।।"

अर्थात् :- साधु लोग गठड़ी नहीं बाँधते हैं अपितु उतना ही रखते हैं जितने से उनका पेट भर जाता है। वे जानते हैं कि उनके आगे पीछे इश्वर साथ साथ खड़े हैं,

जब मागंते हैं तब वह उन्हें देते हैं।

यही भाव हमारे सत्गुरु महाराज जी परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल ने इस भजन में स्पष्ट रूप से प्रकटाया है। :-

"स्वरत्ऽ पानिय करत्ऽ व्यचार;
सार संसार छा सा'ऽ।
राव्ऽ रावुन यिहा ल्वकचार;
युथ कान्ह ज़ार छा सा;'ऽ।।°°

दिह यावुन धन्'ऽ तय ध्यार;
अथ ऐतिबार छा सा;ऽ।
रोज़वुन न्ऽ केंह बोज़ कन दार।।°°

विषियन म्ऽ छिव करनय खार;
युथ कान्ह ज़हार छा सा'ऽ;
ह्यखनय प्वत ख्यत्ऽ पा'ऽ ज़ार।।°°

गूव्यन्दो यति मो प्रार;
प्रारनस ति वार छा सा'ऽ।
ओर्ऽ नय यियी त्ऽ योरय लार।।°°"

इसी तथ्य की पुष्टि श्री लल्लेश्वरी माता ल'लद्यद के इस वाक् से मिलती है :-

"तल्ऽ छुय ज़्युस तय प्यठ्ऽ छुख नचान।
वनत्ऽ मालि मन कवो पचान छुय।।"

अब यहाँ पर इस बात का भी विशेष ध्यान रखना होता है कि पहुँचे हुए गुरु के शरण में आकर अपने जन्म को सफल बनाना अपने बस में नहीं होता है। अपितु पुराने जन्मों के कर्म फल, इस जन्म के संस्कार

और गुरु की कृपा दृष्टि पर निर्भर होता है। फिर भी **"करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान...।"** के आधार पर बहुत कुछ बन सकता है। जैसा कि स्वामी जी के पिछले भजन की अन्ति पंक्ति से स्पष्ट है कि

"ओर्‌ऽ नय यियी तूऽ्योरय लार।।"

अर्थात् :- मनुष्य को सत्गुरु से शब्द पाने के लिए सदा ही प्रयत्नशील रहना होता है। सामर्थ्यवान गुरु के बिना "अनहद शब्द" का सुनना असम्भव होता है और इस शब्द के सुने बिना मुक्ति पाना अत्यन्त ही दुर्लभ होता है। यहीं नाद-बिंद होता है और यही आत्मा-परमात्मा के संगम का एक मात्र मार्ग है और योग साधना की चरम सीमा तथा विशेष लक्ष्य है। इसी लिए परम् पूज्य सत्गुरु महाराज की यह अमृत वाणी उल्लेखनीय हैं :-

"नाद्‌ऽ ब्यन्दच्ये वति तूर्य लार सो'न्दरो।
लार सो'न्दरो सत्गो'र द्वार सो'न्दरो।।

गो'र्‌ऽ शब्दस प्यठ ख'स तूऽ वात अन्नाम,
त्यलि ़च्य प्रणाम छुय नमस्कार सो'न्दरो।।

ज़ुव्‌ऽ साने लोल्‌ऽ च्याञे म्य वो'नमय।
यमि ज़न्मय पान पनुन तार सोन्दरो।।°°

़च्यत्‌ वृत्ति निरूद्ध गछ़ि बोज़ स'रूद्ध।
बूद्ध गछ़ी साक्षात्कार सो'न्दरो।।

तति गाशी गाशी छु परम्‌ऽ आनन्द।
त्रेय बन्ध बन्द क'र तूर्य लार सो'दरो।।°°

"सत्‌ सुय छुय ़च्यत्‌ सुय तूऽ आनन्दिय।

गूव्यन्दिय धारनायि धार सोन्'दरो।।"

सत्गुरु से मिलने के कुछ विशेष उपाय इस प्रकार हैं। सत्-संग, भजन-कीर्तन, साधु-संतों की सेवा, शरणागत-भाव, विनम्र स्वभाव, नाम-स्मरण आदि। यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध होते हैं। इस लोक के लिए भी तथा परमार्थ के लिए भी। यह बिगड़े हुए कर्मों के सवाँरने में सहायक सिद्ध होते हैं। जिस से सच्चे सत्गुरु से मिलन होता है।

4. सत्गुरु व शिष्य का नाता एक अलौकिक देन।

सत्गुरु का मिलना एक अजूबा अर्थात् आश्चर्य ही होता है जबकि मनुष्य समझ ही नहीं पाता है कि ऐसा कैसे हुआ। (It comes like a sleep when one is not aware of it). अर्थात् यह नींद की मानंद होता है जबकि मनुष्य को इसका पता ही नहीं चलता कि कब ऐसा हुआ। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है कि माँ-बाप, भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी, स्त्री-पुत्र, धन-धौलत, यहाँ तक कि अपना-आप भी भूल जाता है। गुरु ही गुरु चारों ओर दिखाई देता है। मनुष्य गुरु पर सब कुछ न्यौछावर करने को उत्सुक होता है। उसके बिना मनुष्य की दशा जल बिना मछली जैसी होती है। यह एक अलौक़िक सम्बन्ध होता हैं जो बड़ा ही गहरा तथा अटूट होता हैं। यह एक अत्यन्त ही पवित्र प्रेम का नाता होता है जो दोनों ओर से पनपता है और हर प्रकार के तनाव मिट जाते हैं। शिष्य तो सत्गुरु के बिना एक पल भी नहीं रह सकता है और सत्गुरु सदा ही अपने शिष्यों की देख-रेख में लगे रहते हैं। जब तक उनका

आत्म-सुधार नहीं होता तब तक वह अन्तर-आत्मा से उनके उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, चाहे शिष्य इस बात को समझे या न समझे। इस प्रकार यह निष्काम बन्धन दोनों ओर से सुदृढ़ तथा अमिट बन्धन बनता है जो ईश्वर की अलौकिक देन होती है। यह तो एक आश्चर्य पूर्ण ईश्वर की लीला स्पष्ट दिखाई देती है कि दो अनजाने मानवों गुरु और शिष्य का अचानक सम्बन्ध स्थापित होता है। गुरु को शिष्य के प्रति ऐसी सहानुभूति उंम्मड़ आती है कि वह शिष्य का जन्म सफल बनाने के लिए अनथक यत्न करने लगता है। मधुरता से शिष्य की विचारधारा को कमल की भाँति विकसित तथा कोमल बनाता है जिस से उसमें नम्रता तथा शरणता का भाव आता है। उसको गुण-दोष रहित बनाकर योग अभ्यास द्वारा आत्म बोध कराता है। अगाध प्रेम द्वारा एकीभाव उत्पन्न करके उसमें आत्म समर्पण की भावना उजागर कराता है। फिर ज्ञानोपार्जन द्वारा उस से अन्धकार से रोशनी की ओर ले जाता है। जिस से उसका सारा अज्ञान मिट जाता है और दोनों गुरु तथा शिष्य का साथ-साथ उद्धार होता है। जब तक अपने साथ-साथ शिष्य का भी उद्धार नहीं होता तब तक उसका साथ निभाता है। उस समय गुरु-शिष्य दो नहीं रहते अपितु एक हो जाते हैं। जैसे कहा जाता हैः-

"दो हैं जिस्म एक है जान।"

"प्रेम की कली अति साँकरी,
जा में दो न समाय।"

अर्थात् :- प्रेम की गली ऐसी तंग होती है जिस में दो नहीं समा सकते हैं।

गुरु नानक साहब का भी कथन हैं :

"गुरु वह करता है जो परमात्मा भी नहीं कर सकता है।" उनका फर्माणा हैं :-

"हुकुम रज़ाई चलना नानक लिखिया नाल।"

इसीलिए कबीर दास जी महाराज भी ईश्वर से प्रार्थना करते है :-

"कबिरा माँगे माँगना देहु मोहि को दोय।
गुरु दर्शन और सत्संग ऊर में निरन्तर होय।।"

अर्थात् :- कबीर दास जी महाराज का कथन है कि गुरु के बिना गति प्राप्त नहीं होती और सत्संग के बिना ज्ञान का उपार्जन नहीं होता है। अतः वह दो ही चीज़ें मांगता है गुरु का दर्शन और सत्संग। यह तो ऐसी दो पद्धतियाँ हैं जिन से मानव को परम् पदवी, सद् बुद्धि अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। जिस से मानव वास्तविक आनन्द का अधिकारी बन सकता है।

इसी तथ्य को एक दूसरे दोहे में इस तरह प्रकट करता है :-

"गुरु गोविन्द दोनों खडे काके लाँगू पाय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।।"

अर्थात् :- कबीर दास जी गुरु की महानता को प्रकट करते हुए कहते हैं कि गुरु तथा इश्वर दोनों के सामने होने पर किसके पाँय लगना है तो अपने गुरु के ही बलिहारी होना होता है जिन्होंने हमें परमात्मा के दर्शन कराए हैं।

वैसे तो सत्गुरु एक आम मनुष्य की तरह ही रहता है और बोलता-चालता है परन्तु वास्तव में स्वयं परमात्मा ही उसके द्वारा बोलता और काम करता है। मनुष्य के

उद्धार के लिए परमात्मा को मनुष्य देह में ही आना पड़ता है। अतः गुरु नर रूप में नारायण होते हैं।

मौलाना रूम का कहना है, "मुर्शिद के शब्द परमात्मा के ही शब्द हैं, हालांकि वे इन्सान की ज़बान से बोले जाते हैं।"

5. शक्ति त्रयं से तात्पर्य।

सत्गुरु के चरण–इच्छा, ज्ञान और क्रिया ही होते हैं। यह तीन शक्तियाँ ही "शक्ति–त्रयं" कहलाती हैं। इन पर ही बहुत कुछ निर्भर होता है। पहले तो 'तीव्र इच्छा' उजागर करनी होती है, फिर सत्गुरु से 'ज्ञान' प्राप्त करना होता है जो गुप्त रूप में 'गुरु दीक्षा' अथवा 'गुरु–मंत्र' में होता है अर्थात् 'नाम–दान' के रूप में होता है, जो गागर में सागर का रूप होता है। फिर गुरु–शब्द प्राप्त करके उस पर तन, मन और धन से अभ्यास में झुट जाना होता है। इसी को 'क्रिया' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार सत्गुरु की चरण वन्दना तथा सेवा उनके बताए हुए मार्ग पर उन के प्रति दृढ़ विश्वास, अगाध–प्रेम और श्रद्धा भाव रखना होता है। 'तीव्र इच्छा' से ही अवश्य कामिल सत्गुरु का मिलन होता है। जैसे कहा भी है "जहाँ चाह वहाँ राह।" (where there is will there is way); कामिल सत्गुरु के मिलने पर उनकी कृपा दृष्टि द्वारा अवश्य ही योग साधना सम्बन्धी 'ज्ञान' की प्राप्ति होती है। अर्थात् मंत्र–जाप की विधि प्राप्त होती है। फिर उस पर अमल करना ही 'क्रिया' कहलाती है। यही इच्छा, ज्ञान व क्रिया होते हैं और इनको ही शक्ति–त्रयं की संज्ञा दी जाती है। इन पर अमल करना ही गुरु चरणों की सेवा

अर्थात् 'चरण सेवन' कहा जाता है। सत्गुरु स्वामी परम दयाल गोविन्द कोल जी महाराज का प्रस्तुत भजन इसी बात की ओर संकेत हैं :-

"अलिमय ख्वत्ऽ ब'ड छय अमल।।
ज़ीवन सफल छुय हा च्योन।।
बोज़बा ह्यो'त फेर मो पो'त।
ल्वत ल्वत ल्वत दि कदम।।
त्वत वातख यो'त करख कल।।°°

युस हबा सज़ि बोज़ पज़ि पज़ि
ग्रज़ि रात दो'ह ओ३म तस।।
वज़ि ज़ीरह बम दज़ियो मल।।°°

गूव्यन्द न्यथ गयि यो सथ।
छुय वज़ान सत् शाब्दिय।।
सत्गो'रनिय ह्यथ पनुन बल।।°°

'इच्छा' पर बहुत कुछ निर्भर होता है। 'इच्छा' मान लो बीज है। फिर इसका बोना सत्गुरु का मिलन होता है जिस से 'ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः 'ज्ञान' बीज का बोना होता है। फिर उसका सींचना तथा पनपना 'क्रिया' के अन्तर्गत आता है जिस पर सब कुछ आधारित होता है। इसी के आधार पर कहा जाता है जैसा बीज वैसा फल। वैसे तो फल अर्थात् परिणाम मालिक पर ही छोड़ना होता है । केवल शक्ति त्रयं की ओर अधिक ध्यान देना होता है - इच्छा, ज्ञान और क्रिया।

जैसे स्वामी जी के एक भजन की अन्तिम पंक्तियों में वर्णित है :-

"माया काल त्येलि नूऽ पोश्यम,
लोल चरणन हुन्द म्य दिम।
सुय बूऽ हावख त्रहरावख
जल पनुन इरशाद दिम।

वो'व ज़मीनस रुत म्य ब्योलुय,
च्योन लोलुय लोलये।
छुय वनान गूवयन्द कोलुय,
अथ करिथ आबाद दिम।।°°

मोल माज्य सोरुय चूऽ म्योनिय,
शुर्य भाष्यन दाद दिम।
नाद लायय लोल'ऽ सानिय,
ओरूऽ फीरिथ वाद दिम।।°°

6. सत्गुरु मंत्र का महत्त्व

सत्गुरु के बताए हुए मन्त्र के श्रद्धा पूर्वक उच्चारण से मन, बुद्धि तथा अन्तः करण की शुद्धि हो जाती है और अन्तर में सत्गुरु के प्रकाश स्वरूप का आभास होने लगता है तथा अन्तः करण की स्पष्टता होने लगती है।

उपनिषद का यह श्लोक गुरु मंत्र पर प्रकाश डालता है :-

"मननात् त्रायते इति मन्त्रः।"

अर्थात् :- मनन करने से जो रक्षा करता है वही मंत्र कहलाता है।

परन्तु श्रद्धा के अभाव में कोई भी मन्त्र सफल नहीं होता है।

इसी के बारे में सत्गुरु महाराज का यह भजन उल्लेखनीय है :-

"संतव ज़ोनुय व्यचोरुय
यि छुस सोरूय गूव्यन्द।।
श्रद्धाये भावनाये कमि लोल तृऽ माये।।
धारणाये ध्यान धोरूय।।°°

ग्वल अज्ञान अभिमानई,
त्रोव प्रोव विज्ञानिई।
सुय पानय युस म्य छ़ोरूय।।°°
वुछ मृऽ न्यबरिमिस दीशस,
कन थव उपदीशस।
गुरु-दीशस सुरत खोरुय।।°°

अस्तुत सत्गो'रृऽ धन्य धन्य,
पादि कमलन करृऽ छ़्य म्वञ्य।
वो'ञ्य गूव्यन्द न्येमि को'रिय।।°°

इस प्रकार गुरु मंत्र में महान् शक्ति होती है जब इसका उच्चारण श्रद्धा भाव से तथा विधि पूर्वक हो।

आन्तरिक शक्तियों को उजागर कराने वाले सत् कर्म में प्रेरित करने का मुख्य साधन मन्त्र ही है। जैसे कहा भी गया है :-

"अभिमनेन नश्यति जनः ।
मन्त्रेण नश्यति अभिमानः।।"

अर्थात् :- मनुष्य के नाश का कारण अभिमान होता है अभिमान के नाश का कारण गुरु मन्त्र होता है।

जो साधक सत्गुरु के सुन्दर चरण कमलों को हृदय

में स्थान देकर तथा श्रद्धा पूर्वक गुरु मन्त्र का उच्चारण करता है उसके मन से अभिमान की रेखा ही मिट जाती है।

गुरु मंत्र ही ब्रह्मात्म साक्षात्कार का साकार, सरल और निश्चित मार्ग है जिस के आधार पर सहज में ही कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है। इसी भाव का स्पष्टीकरण उपनिष्द् के इस श्लोक में है।

"आनन्दो ब्रह्मेति व्याजस्तुति नामः।"

अर्थात् :- गुरु मन्त्र ही वास्तविक ब्रह्मानन्द की अस्तुति होती है।

यह सब गुरु मन्त्र की देन ही है कि अभ्यासी को शनैः शनैः ओ३मकार के चार पाद जो उपनिषदों द्वारा भी वर्णित हैं सहज में ही समझ में आने लगते हैं और ओ३मकार का साक्षात्कार होता है।

7. ओ'३मकार के चार पाद तथा उनका स्वरूप।

ओ३मकार के चार पाद जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्या माने जाते हैं। ओ३मकार की तीन मात्राएँ अकार, उकार, मकार (व्याहृत) क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अभिव्यक्त कराने वाली अवस्थाएँ हैं और इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द हैं। जाग्रत अवस्था में जीवन दक्षिण नेत्र में रहता है, स्वप्न अवस्था में कण्ठ में और सुषप्ति अवस्था में हृदय अर्थात् चिदाकाश में रहता है। इसी का नाम प्रपञ्च त्रय है। इस प्रपञ्च त्रय का अधिष्ठान ओ३मकार का चौथा पाद 'तुरीय' अवस्था है, जो नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, सर्वात्मा तथा सर्व साक्षी है। ओ३मकार के बिन्दु (ॅ) की

अभिव्यक्ति यही तुरीय अवस्था है। यह परमार्थ तत्व है जो इस सबसे विलक्ष्ण, इसमें अनुगत, अधिष्ठान तथा साक्षी है। इसी को ओ३मकार के चुतर्थ पाद अमात्र तुरीयात्म रूप से वर्णन किया गया है। यही प्रकाश स्वरूप है जिसमें नारायण रूपी सत्गुरु का आभास मात्र स्वरूप प्रकट होने लगता है। जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है तो उसी क्षण उसे इस अजन्मा, अनिद्रा तथा अस्वप्न अर्थात् जन्म् स्वप्न व निद्रा से रहित (परम तत्त्व) अद्वैत तत्त्व का बोध होता है। इसी बात का उल्लेख उपनिषद् के इस श्लोक में इस प्रकार वर्णित है :-

"अनादि मायया सुप्तो जीवः
प्रबुध्यते यदा।
अजन्म् अनिद्रम् अस्वप्नम्
अद्वैतम् बुध्यते तदा।।"

इस प्रकार आत्म-सत्य का बोध होने पर अर्थात् तुरीय अवस्था का जागृत होने पर चित्त संकल्य-विकल्प रहित हो जाता है। उसी समय मन अमनस्ता को प्राप्त हो जाता है। इसी को ब्रह्म आकार वृत्ति कहते हैं अथवा वृत्ति व्याप्ति कहते हैं। यह बड़े धीर वीर मनुष्यों का काम होता है जिन पर सत्गुरु की अपार कृपा दृष्टि होती है। इसके लिए अत्यन्त उत्साह, दृढ़ निश्चय, निरन्तर लगन, परम धैर्य तथा विशेष श्रद्धा की आवश्यकता होती है। इसमें नाना प्रकार के विघ्न तथा बाधाएँ उठ खड़ा होते हैं जिनका सामना धैर्यवान व्यक्ति ही कर सकते हैं जिनको सत्गुरु पर अपार श्रद्धा होती

है और जो पूर्ण गुरुमुख होते हैं। उनकी तत्परता तथा गुरु की सच्ची भक्ति ही उनमें तुरीय अवस्था में स्थिति स्थिर बनाने में सहायक होती है। विश्वरूप (जाग्रत), तैजस (स्वप्न) तथा प्राज्ञ (सुषुप्ति) रूपी समस्त (दुःखों) की निवृति में यही तुरीय आत्मा ईशान (प्रभु) सहायक होता है। जैसे उपनिषद् के इस श्लोक से विदित है :-

"अकारो नयते विश्वम्
उकारो चापि तेजसम्।
मकारश्च पुनः प्राज्ञम्
न अमात्रे विद्यते गतिः।।"

अर्थात् :- अकार विश्व (जाग्रत) को प्राप्त करा देता है, उकार तैजस (स्वप्न) को और मकार प्राज्ञ (सुषुप्ति) को किन्तु अमात्र बिन्दु (तुरीय) में किसी की गति नहीं है। मात्रा रहित ओ३मकार बिन्दु ही तुरीय-आत्मा है। जो इसका आश्रय लेता है और इस प्रकार का रूप पहचानता है वह स्वतः स्यद्ध ही अपने आत्मा में प्रवेश कर जाता है। यह अविकारी तुरीय आत्मा ही सब पदार्थों का अद्वैत रूप दीव है तथा सर्व व्यापक माना गया है। अतः द्वैत प्रपञ्च को त्याग कर अद्वैत बोध के लिए ही चिन्तन करना होता है और कदापि स्व-स्वरूप से च्युत नहीं होना होता है। संसार का व्यवहार कर्त्तव्य समझकर तथा स्वरूप निष्ठ होकर करना होता है। साक्षात् अपरोक्ष अजन्मा आत्मा का अनुभव करके लोक में जड़वत् आचरण (निरासक्त रहकर) करना होता है। अर्थात् संतोष भाव प्राप्त करके करना होता है। अन्यथा आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। आत्म-स्वरूप

में स्थित रहना स्वाभाविक 'शम' कहलाता है और जितेन्द्रिय होना स्वाभाविक 'दम' कहलाता है। शम-दम ब्रह्म स्वरूप में स्थिति पाने वाला जीव स्वाभविक शान्ति को प्राप्त हो जाता है। इसी स्थिति के बारे में अर्थात् शान्त ब्रह्म को जानने वाले मनुष्य के बारे में उपनिषद् का यह श्लोक उल्लेखनीय है :-

"वीतरागभय क्रोधै"मुनिभिः वेद पारगैः।

निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चो पशमोऽद्वयः।।[80]

अर्थात् :- जिनके राग, भय, क्रोध आदि निवृत हो गये हैं उन वेद के पारगामी मुनियों अर्थात् उन प्रकाण्ड पंडितों द्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चो पशम अद्वय तत्त्व अर्थात् वह सूक्ष्म परम् तत्त्व देखा गया है।

द्वैतरूप भेद के विस्तार का नाम प्रपञ्च है। उसकी जिसमें निवृति हो जाती है वही आत्मा प्रपञ्चो पशम होता है अर्थात् वही आत्मा अद्वय स्वरूप बनता है। उसी का पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक होती है। इसलिए ओ३मकार पद का वास्तविक स्वरूप बाह्य भीतर से अजन्मा तथा निर्भय ब्रह्म पद है। जो व्यक्ति ओ३मकार में नित्य समाहित रहने वाले होते हैं उनको कहीं भी भय नहीं होता है। जिस ही समय प्राणी ब्रह्मस्थ हो जाता है उस अवस्था में जो आनन्द अनुभव होता है उसे स्वस्थ, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशय (सबसे श्रेष्ठ), सुख स्वरूप, अजन्मा, सर्वाकार, सच्चिदानन्द तथा सर्वज्ञ कहा जाता है।

जिस प्रकार रस्सी में सर्प के आभास का भय

प्रकाश के द्वारा मिट जाता है उसी प्रकार आत्म प्रकाश से सारा भय दूर हो जाता है। ब्रह्मात्म प्रकाश द्वारा अद्वैत भाव प्राप्त होता है जिस से आत्मा जगत से प्रथक नहीं ठहरता। जीव का परमात्मा के साथ एकीभाव होने से सारा भय मिट जाता है। यह सारा तुरीय अवस्था का कार्य होता है जो जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति सभी अवस्थाओं का विस्तार होता है। मनुष्य जो कार्य जाग्रत अवस्था में करता है वह भी तुरीय अवस्था का ही कार्य होता है, जो स्वप्न अवस्था में शरीर से बाहिर विचरण करता हुआ प्रतीत होता है गोया कि वह जाग्रत अवस्था में ही हो वह भी तुरीय अवस्था का ही कार्य होता है और जो सुषुप्ति अवस्था में मन का करार आने लगता है यह सब तुरीय अवस्था का ही कार्य होता है। यह तो यही तुरीय अवस्था है जो अप्रत्यक्ष रूप से सभी अवस्थाओं में व्याप्त होकर कार्य करती रहती है जो मनुष्य के समझ की बाहिर की वस्तु होती है। जिसको इस वास्तविकता की पहचान आती है उसे ही ब्रह्म-ज्ञानी कहा जाता है जो मार्ग दर्शक के बिना प्राप्त करना दुर्लभ होता है और इसी वास्तविक पहचान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

इस से परे तुरियातीत होता है। जब मुनष्य अभ्यास करते करते सूक्ष्म एकाग्रता प्राप्त करता है तो यह तुरीय अवस्था प्रत्यक्ष रूप धारण करती है और ओ३मकार का प्रकाश स्वरूप प्रकट होने लगता है। जिसका संकेत पंचस्तवीकार के परमतत्त्व का साक्षात्कार होने के आधार पर पंचस्तवी के प्रथम श्लोक में ही देखने को मिलता

है। जो साधक ने अपने 'इष्ट मन्त्र' तथा अपने 'साधनाक्रम' के आधार पर "ऐं", "क्लीं", 'सौः" के रूप में गुप्त रूप से प्रकटाया है। जिसके फलस्वरूप साध ाक ने ललाट में इन्द्रधनुष का शीतल प्रकाश जैसा, सिर में अमृत को टपकाते हुए चन्द्रमा की ज्योत्सना के रूप में तथा हृदय में सूर्य के उज्जवल तथा तीव्र प्रकाश जैसी 'सँवित' शक्ति का साक्षात्कार अनुभव किया है।

8. **त्रिसंध्या का स्वरूप।**

इस अवस्था तक मन का साथ होता है। फिर मन से परे होकर जीव आनन्द विभोर होकर रह जाता है। वह ब्रह्मात्म साक्षात्कार ही त्रिसंध्या का स्वरूप जो कभी कभी सत्गुरु के प्रकाश स्वरूप के रूप में भी प्रकट होकर रहता है। इसी को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार अकार व उकार की सन्धि, उकार व मकार की सन्धि, मकार व अमात्रबिन्दु की सन्धि के आधार पर ओ३मकार (ॐ) का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार जाग्रत व स्वप्न की सन्धि, स्वप्न व सुषुप्ति की सन्धि तथा सुषुप्ति व तुरिया की सन्धि बनती है। इसी के प्रकट होने पर त्रिसंध्या का रूप धारण होता है जो पंचस्तवीकार ने बीज मन्त्र "ऐं, क्लीं, सौः" के रूप में ललाट, सहस्रदल तथा अनाहत् में प्रकाश रूप में प्रकटाया है। यही योग साधना का लक्ष्य होता है जो जीवात्मा को अपना जन्म सफल तथा उद्धार बनाने का साधन है।

बाहिरी जगत में त्रिकाल सन्धि पर बल दिया जाता है जैसे प्रातः मध्याह्न व सायं। इन तीन सन्ध्या कालों की पूजा-अर्चणा श्रेष्ठ मानी जाती है। वास्तव में आन्तरिक

सन्धायें ही मानव जीवन को सफल बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। इन्हीं आन्तरिक तीन सन्ध्याओं के 'सँवित' रूप को त्रिपोर-सुन्दरी की संज्ञा दी जाती है। इस त्रिसंध्या के पूर्ण होने पर मानव को तुरिया तीत पद की अवस्था ग्रहण करनी होती है जो मनुष्य-जन्म का अभीष्ट लक्ष्य होता है। जिस लक्ष्य की पूर्ति होने पर वह गर्भ-जोनी से मुक्ति पाता है।

तुरीय अवस्था तक मन का साथ होता है और स्थूल एकाग्रता से सूक्ष्म एकाग्रता की स्थिति इसी पर आधारित होती है। यह तो तुरीय अवस्था ही है जो इन तीन अवस्थाओं में व्याप्त होकर इन तीनों सन्धियों को कार्यान्वित करती रहती है तथा मानव जीवन का संचालन करती है। इन सन्धियों की पहचान सत्गुरु से ही प्राप्त हो सकती है जिस ने स्वयं अभ्यास द्वारा इन सन्धियों का चयन किया हो। यह सब अभ्यास से ही समझ में आने वाली बात है। यह एक ऐसी सूक्ष्म अवस्था है जो इन बाहिरी नेत्रों से देखने में नहीं आती। कुण्ड़लिनी जाग्रति में यह परम् आवश्यक कार्य निभाती है। इस पर भी बहुत कुछ आधारित होता है।

9. राधा-स्वामी मन्त्र की शाब्दिक परिभाषा।

जिस प्रकार चारों अवस्थाएँ जाग्रत, सवप्न, सुषुप्ति तथा तुरिया सभी 'तुरी अवस्था' का ही विस्तार होता है, इसी प्रकार चारों वाणियाँ परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखुरी सभी 'परा शक्ति' के ही प्रसार हैं। इस 'परा शक्ति' के सम्बन्ध में उपनिषद में ऐसा वर्णन आया है :-

"यतो वाचो निवर्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह।"

अर्थात् :- जिस 'परा-शक्ति' का प्रसार सभी वाणियाँ हैं तथा जिस से सारी स्थूल व सूक्ष्म सृष्टि की उत्पति है वह मन से परे की वस्तु है।

यही 'परा-शक्ति' 'परा वाणी' अर्थात् (sound) 'स्वामी' कहलाती है। इसी प्रकार जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति 'तुरीय अवस्था' का ही विस्तार है और सभी इसी में समा कर ज्योति का भण्ड़ार बन कर रह जाता है। यही ज्योति अर्थात् "light" 'राधा' कहलाती है जो सूरत के उल्टाने पर त्रिकुटि में प्रकट होती है। इन दोनों के योग अर्थात् संगम का नाम "राधा स्वामी" है। इसी को 'सूरत-शब्द' योग की संज्ञा दी जाती है। इसका महिमा तथा रूप अवर्णनीय है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र जो क्रमशः सृष्टि, स्थिति तथा संहार के अधिष्ठाता हैं वह इसी 'संवित शक्ति' से ही निकलते हैं और इसी में लय की प्राप्ति पाते हैं। यह 'संवित शक्ति' ही 'परा-शक्ति' व 'तुरीय शक्ति' का समिश्रण है जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है। इसी से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और लय हो जाते हैं। यही प्रत्येक प्राणी में कुण्डलिनी शक्ति के रूप में ठहरी हुई है। इस का केन्द्र शरीर के अन्दर दोनों नेत्रों के पीछे है। जिस को 'तीसरा तिल' 'तीसरा नेत्र' अथवा 'शिव-नेत्र' कहते हैं। योग साधना द्वारा ही इस बिखरी व फैली हुई 'सूरत' को सब ओर से समेट कर वापस इसी केन्द्र पर लाकर पूर्णतया अचल व स्थिर बना लेना होता है। इसी को लय स्थिति कहा जाता है। जब प्राणी को यह लय

स्थिति प्राप्त होती है तो इसी को 'शाम्भवी अवस्था' अथवा 'शिवस्थिति' कहते हैं। इसी के स्पष्टीकरण में जीवात्मा तथा परमात्मा का संगम होता है। वैसे तो बहुत ही कम धीर-वीर तथा धैर्यवान मनुष्य ऐसे होते हैं जो इस स्थिति को प्राप्त (करने वाले) होते हैं अर्थात् इस अवस्था का अनुभव प्राप्त करते हैं। राधा-स्वामी योग का लक्ष्य भी इसी आनन्द के अनुभव को प्राप्त करना है। संक्षेप में राधा-स्वामी योग का सार यही है कि पहले सुमिरण, फिर ध्यान, फिर धुन द्वारा आत्मा को उस दिव्य धुन के साथ जोड़ना तथा लय स्थिति को प्राप्त करना है।

सुमिरण, ध्यान तथा भजन-कीर्तन द्वारा हम सूरत (धारा) को बाहिरी वस्तुओं से हटा कर तीसरे तिल पर एकाग्र करते हैं। जब हमारी सूरत वहाँ स्थिर हो जाती है तो दिव्य-धुन के सहारे सुष्मणा नाड़ी के द्वारा (जिस को ब्रह्म नाड़ी भी कहते है) हमारी आत्मा ऊपर के मंडलों में विचरण करने लगती है।

यहाँ पर अनहद नाद विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य निभाता है, जो मार्ग दर्शक बनकर रहता है। यद्यपि इस धुन को सुनने के लिए एक विशेष मुद्रा तथा आसन उपयोगी सिद्ध होता है परन्तु गुरु प्रसाद तथा गुरु कृपा से इस आसन का कोई महत्त्व नहीं रहता।

गुरु-मुख प्राणी किसी भी सरल, सहज व आराम-देह आसन ग्रहण कर सकता है। क्योंकि मन की एकाग्रता महत्त्वपूर्ण है, आसन नहीं, जो गुरु कृपा से स्वतः स्यद्ध ही प्राप्त होती है।

इस के परे की अवस्था योग साधना की चरम

सीमा है जो मानव को जन्म-मरण अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलाता है। इस तुरिया तीत अवस्था के प्राप्त होने पर मानव को ऐसा अनुभव होता है कि वह और परमात्मा दोनों एक ही हैं, भले ही एक समुद्र है और दूसरा उसकी बूँद है, तभी मानव जन्म का ध्येय (लक्ष्य) पूर्ण होता है। यह एक ऐसी अवस्था बनती है जो अवर्णनीय व अकथनीय है। यहाँ आश्चर्य ही आश्चर्य है। यही अवस्था अगम, अलख, अन्नाम, अपार आनन्द का स्वरूप होता है। इसी अवस्था को दयाल देश की उपाधी दी जाती है। यह अवस्था वाङ्ग-मनस गोचर होते हुए भी अवाङ्ग-मनस अगोचर होती है। अर्थात् वाणी तथा मन के द्वारा यहाँ तक पहुँचा जा सकता है। फिर मन तथा वाणी यहाँ से लौट कर आते हैं और मन तथा वाणी के परे की अवस्था बनती है।

राधा-स्वामी मत का लक्ष्य इसी अवस्था को प्राप्त करने का है।

10. **सांख्य योग, कर्म योग व भक्ति योग निष्ठा।**

यह तो सच है कि इन्द्रियाँ स्थूल शरीर से श्रेष्ठ तथा बलवान हैं। इन पर नियन्त्रन पाना कठिन है। इन इन्द्रियों से भी परे 'मन' है, मन से भी परे बुद्धि है और बुद्धि से भी जो अत्यन्त परे है वह आत्मा है। आत्मा तक की जो भी स्थिति है वह मन तथा वाणी के आधार पर ही निर्भर होती है। जो भी घंटा-शंख-मृदंग आदि के शब्द अन्तर में होते रहते हैं वह हर एक मनुष्य की अपनी-अपनी प्रकृति के आधार पर ही होते रहते हैं। जैसी जैसी ही मनुष्य की वासना होती है उसी के

अनुसार ही शब्द सुनाई देने लगते हैं।

इसी प्रकार जब मनुष्य की चित्त-वृत्ति एकाग्र हो जाती है तो उसके अन्दर ज्योति प्रकट हो जाती है। यद्यपि इनका प्रकट होना भी विश्वास को दृढ़ बनाने में आवश्यक है, परन्तु इनकी ओर अधिक ध्यान नहीं देना होता है। केवल अगम देश में लय होने की चेष्टा करनी होती है। ऐसा करना तो निष्ठावान मनुष्यों का ही कार्य होता है।

एकाग्रता, तत्परता, निश्चय तथा विश्वास को ही 'निष्ठा' कहते हैं। 'निष्ठा' योग-साधना की पराकाष्ठा तक पहुँचने का नाम है। यही साधना की परिपक्कव अवस्था प्राप्त करने का साधन है। 'निष्ठा' मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है :-

1. सांख्य योग निष्ठा;
2. कर्म योग निष्ठा;
3. भक्ति योग निष्ठा।

i. सांख्य योग निष्ठा ज्ञान योगियों की निष्ठा होती है। यह ज्ञान-योग पर आधारित है, जिसमें प्रकृति तथा चेतन पुरुष ही जगत का मूल माना गया है। यह महर्षि कपिल द्वारा चलाया हुआ सांख्य दर्शन पर आधारित है। माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण, मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्त्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी सत् चित् आनन्दघन परमात्मा में एकी भाव से स्थित रहने का नाम ज्ञान योग है। इसी को सांख्य योग अथवा सन्यास-योग के नाम से जाना जाता है।

साँख्य योग का सिद्धान्त है कि आत्मा एक तथा सर्वव्यापक है। जो आत्मा मेरे अन्दर है वही कीट पतंग आदि में भी है। इसी को 'षट्-अध्वय' से जाना जाता है। अर्थात्

"भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद, वर्ण" षट्-अध्वय कहलाता है। तन्त्र शास्त्र में यह षट्-अध्वय जगत् शंकर का ही स्वरूप माना गया है।

ii. कर्म योगियों की निष्ठा कर्म योग निष्ठा कहलाती है। फल तथा आसक्ति को त्याग कर भगवत् आज्ञा अनुसार केवल भगवत अर्थ समत्तव बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्म योग है। निष्काम भाव से जो कर्म किया जाता है वही कर्म योग है। यही 'समत्त्व योग' 'बुद्धि योग' 'तदर्थ कर्म' 'मदर्थ कर्म' आदि नामों से भी जाना जाता है। कर्म योग का सिद्धांत है कि कर्म करते समय सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय, हानि-लाभ, दुःख-सुख आदि में सम रहना होता है।

iii. भक्ति-योग निष्ठा निःस्वार्थ प्रेम जिसमें अपना अस्तित्व छोड़कर सर्वस्व समर्पण करने की भावना होती है वह भक्ति-योग निष्ठा कहलाती है। इस में गोपियों का प्रेम भगवान श्री कृष्ण के प्रति जैसी निष्ठा होती है। भक्ति योग सिद्धान्त में ईश्वर के अवतार के किसी भी साकार स्वरूप के साथ अनन्य भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, प्रीति व समर्पण का भाव रखना है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक की इस पंक्ति से स्पष्ट है:-

"यो यो यां यां तनु भक्तः,
श्रद्धयार्चितुं इच्छति।"

अर्थात् :- जो जो भक्त जिस जिस स्वरूप की भक्ति करता है मैं उसकी उस श्रद्धा को उसी स्वरूप में दृढ़ करके प्रकट होता हूँ।

परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में इसी निष्ठा को दर्शाया है:-

"बार बार व्यचार बुछत्ऽ क्या ग'व।
प्रेयमत्ऽ पानन्यार वुछत्ऽ क्या ग'व।।

याद पाव श्री राम्ऽ सुय वन्ऽकुय।
छ्यट मेव्ऽ सीवरायि हिंद्य ख्यनकुय।।
मन्ऽकुय मिल्ऽचार वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

राधायि हंद्यि त्वत दो'ध च्यन्ऽ सी'त्य।
कृष्णस बस्त्ऽ खच्ऽ लोल ह्यन्ऽ सी'त्य।।
च्यन्ऽ सीत'य आहार वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

पोंप्र्य पानय पान ज़ोलुन।
दिह अभिमानिय मद वोलुन।।
चालुन यि लोलऽ नार वुछत्ऽ क्या गव।।

दरिद्र सुदामस कमि क्र'ये।
भगवान टोठ्योस वुछत्ऽ ब्यये।।
दयि सुन्द दरबार वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

ल्रा'लायि रथ को'ड्डख मजनूनस।
निस्त्र्र दिनय वुछत्ऽ क्या बन्योव तस।।
रत्ऽ सिय धार ल'ऽज्य वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

प्रेयमस मंज़ छुय सोरूय माफ।
यस प्रेयम तस हरन दुःख तय पाप।।

संताप यक्बार वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

लगयो दीन्ऽ बन्धूऽ दया स्यन्धूऽ।
राधा स्वामियस ज़ुव ब्ऽति वन्द्ऽ।।
गूब्यन्द्ऽ गमखार वुछत्ऽ क्या ग'व।।°°

राधा स्वामी मत में तीनों प्रकार की निष्ठाएँ काम करती हैं। इस में ज्ञान योग तथा कर्म योग के साथ-साथ भक्ति योग पर भी बल ड़ाला जाता है, जो अटल प्रेम पर आधारित होता है। यहाँ प्रेम भावना का विशेष महत्त्व होता है।

वैसे तो जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट रहने वाला होता है, जिसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं होता है वह भी श्रेष्ठ होता है तथा जो इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से इन्द्रियों द्वारा कर्म-योग का आचरण करता है वह भी श्रेष्ठ होता है। आसक्ति से रहित होकर कार्य करता हुआ मनुष्य भी परमात्मा को प्राप्त करता है तथा आत्मानन्द में लीन मनुष्य भी परमात्मा को प्राप्त करता है। आत्म स्वरूप में लीन मनुष्य को 'अच्युतानन्द' कहा जाता है। इसी के बारे में परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज का यह भजन उल्लेखनीय है :-

"आत्म तीर्थस मंज़िय चूऽश्रान कर।
त'थ्य मंज़ छि सा'स्यय दिविये सो'न्दरो।।°°

च़िय अन्दर च़िय न्यबर
यो'ऽहय ध्यान क'र।

प्रथ तरफ़ऽ च्योनुय ज़ुवये सो'न्दरो।।

समतायि अमृत रात दो'ह पान कर।
थलि थलि वुछतन शिवियै सो'न्दरो।।

परमूऽ सो'ख प्राव दिहि अभिमान दूर क'र।
सत्गो'र पादिय सीवये सोन्दरो।।°°
यो'त यिथ पनऽ नुय हाऽसिल ज्ञान कर।
सोरुय गूव्यन्द ज़ुवये सो'न्दरो।।°°

-----oo-----

यही भाव 'शिव महिम्ना स्तोत्र' के इस श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकटाया गया है :-

"त्रयी सांख्यं योगः
पशुपतिमतं वैष्णवमिति;
प्रभिन्ने प्रस्थाने
परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल
नाना पथजुषां; नृणामेको गम्यस्त्वमसि
पयसामर्णव इव।।"

अर्थातृ :- तीनों सांख्य योगशात्र, शैव शास्त्र, वैष्णव शात्र, ऐसी भिन्न भिन्न मत्तों में जो यह भाव कि यह ठीक है अथवा वह ठीक है और यह मार्ग हितकर है अथवा वह। इस प्रकार के अनेकों सीधे-टेढ़े मार्गों का सेवन करने वाले मनुष्यों का लक्ष्य केवल एक ही केन्द्र की प्राप्ति है, जिस प्रकार सीधे-टेढे भिन्न भिन्न मार्गों से बहती हुई अनेक नदियों के जल को 'समुद्र' जैसे एक मात्र स्थान में समाने के लिए ही योग्य केन्द्र होता है।

इसी प्रकार एक और श्लोक की यह पंक्ति इसी भाव को सपष्ट करती है :-

"न हि स्वात्मारामं विषयमृग तृष्णा भ्रमयति।"

अर्थात् :- निश्चय ही जो आत्मा में रमण करते हैं अर्थात् जो आत्मरत और आत्म तृप्त होते हैं उन्हें विषय भोग रूपी मृगतृष्णा भ्रम में नहीं ड़ाल सकते हैं अर्थात् मोहित नहीं कर सकते।

11. **कर्मों का विवरण :-**

अब यहाँ पर कर्मों की गति तथा स्थिति पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना यथा योग्य ही है। क्योंकि कर्म-योग निष्ठा में इसकी जानकारी बहुत ही महत्वपूर्ण है। मुख्य कर्म तो तीन प्रकार के है :-

(क) प्रारब्ध कर्म;
(ख) तात्क्षणात् कर्म; और
(ग) सञ्चित कर्म ।

(क) प्रारब्ध कर्म :- प्रारब्ध कर्म अटल होते हैं। इन्हें कोई नहीं टाल सकता है। इनका फल भोग पहले से ही तय हो चुका होता है। हाँ इतना तो अवश्य हो सकता है कि सत्गुरु कृपा दृष्टि से इनके प्रभाव को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। सत्गुरु के अनुग्रह-प्रसाद से मनुष्य में सहनशीलता आती है और उसका मन कभी विचलित नहीं होता है। मन के स्थिर रहने से हानि होने की सँभावना भी टल सकती है। यह सारा व्यवहार स्वप्न-वत् प्रतीत होने लगता है। मन के करार में रहने से हर प्रकार का करार बनता है जो योग-साधना का मुख्य लक्ष्य होता है। यही भाव संत कबीर दास जी

महाराज के इस दोहे से स्पष्ट है :-

"मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाइए,
मन के ही परतीत।।"

अर्थात् :- मन के विचलित होने पर हर प्रकार की पराजय होती है। परन्तु मन के करार में रहने से हर प्रकार की विजय प्राप्त होती है यहाँ तक कि मन के दृढ़ विश्वास से ही ईश्वर को भी पा सकते हैं।

अतः प्रारब्ध कर्म तो भोग कर ही रहना होता है, परन्तु भोग के भोगने में अन्तर होता है - एक हँस कर भोगता है तो दूसरा रो कर।

(ख) तात्क्षणात् कर्म :-

यह ऐसे कर्म हैं कि यहाँ से कर्म किया जाए तो वहाँ से उसका फल प्राप्त होता है। जैसे हवण-यज्ञ आदि का रचना, श्री गणेश जी, शिव जी, शक्ति स्वरूपा भगवती आदि पर दूध, जल, फल-फूल, अर्ग-पुष्प, धूप-द्वीप-कर्पूर चढ़ाना, रोठ, पीले चावल, कंद-नबात्-क्षीर-हलवा आदि भोग चढ़ाना, तीर्थ यात्रा पर जाना, नवदुर्गा पूजा, सत्यनारायण व्रत आदि रचना, भवानी सहस्त्रनाम, इन्द्राक्षी पाठ-हनुमान चालीसा आदि का क्रमिक जाप तथा व्रत अथवा पर्व आदि का नियम पूर्वक पालन करना ऐसे कर्मों में गिने जाते हैं। ऐसे कर्म करने से जो कोई संकट अथवा ग्रह दशा होती है उसका शीघ्र निवारण होता है। इस में 'नग' आदि का धारण करना, रीति रिवाजों का पालन करना तथा तंत्र-मंत्र द्वारा जादू-टोना आदि का निवारण करना भी

सम्मिलि हैं। परन्तु यदि इन्हें आसक्त भाव से किया जाए तो कर्म बन्धन में फंसने की सम्भावना होती है।

(ग) सञ्चित कर्म :- यह ऐसे कर्म होते हैं जिनके द्वारा उपार्जित फल अगले जन्मों के लिए होते हैं अथवा किसी अकस्मात् आकाशी आफत् से बचने के लिए हैं। इन में दान देना, किसी अनाथ की सहायता करना, किसी का उपकार करना किसी भूखे को भोजन खिलाना, किसी नंगे को वस्त्र पहनाना, दीन दुःखी का दुःख दूर करना आदि सम्मिलित हैं।

कर्म तो अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु हर प्रकार के कर्मों को निष्काम भाव से भोगना ही जन्म को सफल बनाने का एक मात्र उपाय है। अर्थात् आवागमन के चक्कर को काटने का एक मात्र उपाय कर्मों का अनासक्त भाव से भोगना ही है। कर्मों के करने में फल प्राप्ति की तनिक भी इच्छा नहीं होनी चाहिए क्योंकि कर्मों का चक्कर काटना बहुत ही कठिन होता है। एक बार इनकी गति आरम्भ हुई तो यह गति रोकी ही नहीं जाती है जब तक कि किसी संत सत्गुरु की कृपा दृष्टि प्राप्त न हो। तभी अनासक्त भाव प्राप्त हो सकता है।

इसी बात का सपष्टीकरण विज्ञान के इस सिद्धान्त से होता है कि "प्रत्येक वस्तु अपनी गति को बनाये रखती है जब तक कि कोई बाहिरी शक्ति उसमें बदलने की स्थिति प्रादन न करे अथवा रोक न ले।" [every body continues in its state of rest or motion unless some external force is applied].

यही बात कर्मों के चक्कर के बारे में सत्य ठहरती है।

हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी के इन भजनों में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है:-

i. "आत्मूऽ ध्यान धार धारनाये
वासनाये चॖठतो।।°°

दीशि दीशि फिर त्रष्णाये
ब'ड़्य वीर चॖ्र पथ हठतो।
ज़्यनूऽ मरनूऽचि ल्राऽगिन क्राये।।°°

ल्यूख यी कर्मूऽ लीखाये
तथ ज़ांह गछ़ि नूऽ गठतो।
त्राव वसूऽ वसूऽ वूह्यतूऽ वाये।।°°

वोत कान्ह गो'रूऽ कृपाये
न'तूऽ वीरन ति नठतो।
शिव खो'श ओ३म पूज़ाये।।°°

गूव्यन्द यमि व्वपाये
म्वकलि दिनि लठ लठतो।
प'र स्वर ब्रह्म विद्याये।।°°

दूसरे इस भजन में अपने सत्गुरु से कर्म चक्कर को काटने के लिए प्रार्थना करते हैं :-

ii. "सन्तन हुन्दुय न्यथ दर्शुनुय
सत् संग सत् व्यच़ार दिम।
शख शुब्ह रोस्त अप्रोक्ष ज्ञान
ब्रह्मात्म साक्षात्कार दिम।।°°

प्रतिबन्ध साऽरी कास्तम दीवूऽ सदा खो'श आस्तम।
च़ऽ अख बूऽ अख मत् भास्तम क्राऽ'सिथ यो'हय दु'गन्यार दिम।।°°

खो'श शिव शक्ति गूव्यन्दस ज़ीवन मो'क्ति गूव्यन्दस।
अभीद्ऽ भक्ति गूव्यन्दस पननी बारम्बार दिम।।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्मों के चक्कर की गति बहुत ही न्यारी होती है। सभी तो कर्मों के बन्धन में झकड़े हुए हैं, चाहे गृहस्थी हो, चाहे विरक्त हो, चाहे सन्यासी हो। सब तो कर्मों के आधार पर ही जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु निर्लिप्त होकर कर्मों के भोगने का आनन्द कुछ और ही होता है। ऐसा करने से यह लोक भी बनता है तथा परलोक भी सवँर सकता है। जैसे कहा भी है :- **"दस्त बा कार दिल बा यार!"**
अर्थात् :- बाहिर से कर्म करते जाओ तो अन्दर से ईश्वर के साथ लय हो जाओ। बाहिर से संसार का व्यवहार कर्त्तव्य समझ कर करते जाओ और अन्तर में सत्गुरु की लगन में मस्त रहो। जिस का वर्णन संत सूरदास जी ने बिन्द्राबन की गोपियों तथा ग्वाल बालों का श्री कृष्ण के प्रति लगन की उदाहरण से किया है। संत कबीरदास जी महाराज का यह दोहा भी इसी भाव को प्रकटाता है :-

"सुमिरण की सुध यों करो
ज्यों गागर पनिहार।
होले ड़ोले सुरत में
कहैं कबीर विचार।।"

अर्थात् :- कबीर दास जी महाराज कहते हैं कि जैसे पनिहारी का ध्यान हर समय गागर पर ही रहता है इसी प्रकार हर समय उठते बैठते, सोते-जागते ईश्वर की लगन में ही मन रमाणा होता है।

12. निष्काम कर्म तथा राधा स्वामी मत।

इस प्रकार संक्षेप मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चाहे कर्म योगी हो, ज्ञान योगी हो अथवा भक्ति योगी हो स्भी कर्म लिप्त होते हुए सबों को अनासक्त, शरणार्गत तथा आनन्द मग्न होकर कर्म भोगने का धर्म निभाना होता है। कर्म भोगने का धर्म ही आश्चर्य जनक होता है कि कर्म का भी करना तथा कर्म से निर्लिप्त रहना भी जैसे जल में कमल के पत्तों की भाँति भवसागर में रहने वाली बात है। ऐसा केवल पूर्ण भक्त सन्तों के द्वारा ही हो सकता है। कर्मों का निष्काम भाव से भोगना ही कर्मों का काटना है। कर्मों का निष्काम भाव से भोगने का उपाय सत्गुरु मन्त्र का सहृदय उच्चारण तथा उसी में विलीन होना है। सत्गुरु मन्त्र एक ऐसा सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसके द्वारा स्थूल पर नियन्त्रण किया जा सकता है और सूक्ष्म की पहचान हो सकती है और कर्मों को निष्काम भाव से भोगने में आनन्द प्राप्त होता है। सत्गुरु मन्त्र में प्रकृति को वश में करने की अपूर्व शक्ति विराजमान है। मन्त्र जाप की अपूर्व शक्ति मन्त्र के सिद्ध होने पर ही समझ में आती है। इस समझ को अमली तोर पर प्रकटाने के लिए पूर्ण तथा पहुँचे हुए सत्गुरु से बताई हुई विधि के अनुसार जाप तथा अभ्यास, जो कुंभक, पूरक तथा रीचक पर आधारित होता है, को अपनाना अनिवार्य है। इसी को प्राणायाम की उपाधि भी दी जाती है। ऐसा करने से इन्द्रियाँ एकाग्र हो जाती हैं, मन का हल चल दूर होने लगता है और उद्धय-अस्त रहित सूर्य प्रकट होने लगता है। इसी पर निष्काम भाव से कर्म भोगना

आधरित होता है। इसी को 'ओ३मकार का साक्षात्कार' अथवा 'शक्तिपात' का नाम दिया जाता है। 'राधा' अर्थात् 'सूरत' का ध्येय (उद्देश्य) इसी की प्राप्ति से है। इसी को सत्गुरु-धाम कहा जाता है। यहाँ तक मन का साथ होता है अर्थात् यहाँ तक मन के सहारे ही पहुँचा जा सकता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब इस में निष्काम कर्म की भावना विद्यमान होती है। मन का साथ यहाँ से छूट कर प्राणों का सहारा होता है जिस से तुरियातीत की अवस्था प्राप्त होती है। यही परम् धाम, अलख, अगम, अन्नाम, बे रूप, बे-निशान का पद कहलाता है। इसी स्थिति को दयाल देश की उपाधि दी जाती है, जहाँ केवल सत्गुरु मेहर से ही पहुँचा जा सकता है। अण्ड, पिण्ड़ और ब्रह्माण्ड़ से छुटकारा पाकर जब जीवात्मा द्वादशान्त से परे दयाल देश में विश्राम पाता है तभी लक्ष्य की पूर्ति की सम्भावना होती है। इसी को अनाहद देश, असीम, राधा-स्वामी का नाम दिया जाता है। यही सूरत-शब्द योग की पराकाष्ठा है। इसी के बारे में संत कबीर दास जी महाराज का यह दोहा प्रस्तुत है :-

"कबीर धारा अगम की
सतगुरु दीव दिखाय।
तामे उल्ट स्मर भजो
स्वामी संग लगाय।।"

अर्थात् :- संत कबीर दास जी का कहना है कि सूरत जो अगम की धारा है इस का रुख नीचे की ओर होने के कारण जीवात्मा को ऊपर के मण्ड़लों में विकास पाने का बोध ही नहीं होता है। परन्तु सत्गुरु से इसका बोध

पा कर ही सूरत को ऊपर की गति प्राप्त होती है। इस प्रकार 'धारा' को उल्टा कर 'राधा' बन जाता है और स्वामी' संग लगा कर 'राधा-स्वामी' बनता है। इस प्रकार राधा-स्वामी केवल मंत्र जाप ही नहीं है अपितु अन्तर अभ्यास द्वारा अन्तर की 'सूरत' को उल्टा कर तथा ऊपर की गति देकर इसे 'शब्द' के साथ संगम कराने के लक्ष्य की पूर्ति का सहज क्रयान्वित रूप अपनाना होता है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए संत कबीर दास जी महाराज इसी 'राधा-स्वामी' मंत्र के जाप तथा स्मरण पर बल देते हैं।

इसी के बारे में हमारे सत्गुरु महाराज स्वामी गोविन्द कोल जी ने भी लिखा है :-

"सू सू करान सू दिथ म्य ज़ोर गोम।
तोर गोम यलय वज़ान छु सू ।।°°

सूरत वा'ऽतिथ प्यठ सतपोर गोम
तति न्यष्कल'य वज़ान छु सू।
ओर्ऽ योर्ऽ सुये दो'गन्यार कोरगोम।।°°

सूरत खसिथिय कुनुय दोर गोम
सुन्नह मण्ड़लह वज़ान छु सू।
पिण्ड़ह त्ऽ ब्रह्माण्ड़ह अपोर गोम।।°°

गाशी गाशी न्वन चो़पोर गोम
वुछ न्यर मलह वज़ान छु सू।
सत् सत् शब्दुक कनन शोर गोम।।°°

गूव्यन्दस खो'श पनुन गोर गोम।

सर्व्ऽ मंगलह वज़ान छु सू।
मिलविथ यारस मंज़िमयोर गोम।।°°

'राधा स्वामी' मत की रूप रेखा पर यह चन्द पंक्तियां भी उल्लेखनीय हैं:-

"राधा स्वामी! राधा स्वामी!
राधा स्वामी जय!
अनहद शब्द है यहः मारफत का मय।
संत कबीर ने इस वाणी को गाया
हजूर शिव दयाल ने अंतर में पाया।
नव साल की तपस्या में होकर लय।।
अंतर की धारा को है उल्टाया
स्वामी इसी के संग में लगाया।
संत तुलसी से लेकर इसका पय।।°°
राधा स्वामी शब्द से हुआ सब का उद्धार
अगम का यही मंत्र है सार।
बन्सरी भी भरता है इसी में प्रय।।°°

वैसे तो ऐसा कोई विरला ही व्यक्ति होता है जो इस अवस्था की गति को प्राप्त कर सकता है और आवागमन अर्थात् कर्म बन्धन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। सत्गुरु के दर्शाये हुए मार्ग पर चल कर निष्काम कर्म द्वारा ही भक्त जन श्रवण, मनन, ध्यान, निद्यासन से ही इस परम प्रकाश शान्त स्वरूप विमल परमानन्द सत्वित् आनन्द को प्राप्त होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सत्गुरु कृपा, पूर्व जन्मों के पुण्य कर्म, इस जन्म का शुद्ध आचरण, दृढ़ निश्चय, दृढ़ विश्वास, विनम्रं स्वभाव, शरणागत भाव, सहनशीलता, संसार के

प्रति उदासीनता, अनासक्त भाव, स्वस्वरूप में लीन रहना आदि अनिवार्य हैं। इस सब के आधार सतम्भ हैं–

सत्संग, सत्स्मरण, ध्यान, भजन, कीर्तन, परोपकार की भावना, निर्विकल्प समाधी, आदि हैं। इस में सत्गुरु मन्त्र का विशेष योगदान होता है। जो जीव (प्राणी) विधि पूर्वक सत्गुरु मन्त्र का अभ्यास करते हैं उनके आन्तरिक पट खुल जाते हैं और उनको विषय वसनाएँ, मोह माया आदि विचलित नहीं कर पाते हैं। भवसागर से पार होने का एक मात्र उपाय 'नाम स्मरण' ही प्रत्येक मत के अनुसार माना गया है चाहे विधि कुछ भी हो। परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में भी गुरु–मन्त्र पर ही विशेष बल डाला गया है :–

"गो'र्ऽ शब्द्ऽ सिल सिला'य।
ओ३म शब्द्ऽ वति पका'य।।
त्रिकूटी मण्ड़ला'य।।°°

ओ३म सार ओ३म छु सोरुय
म्यते धारणायि धोरुय।।
तोरुय ग'व म्य यला'ऽय।।°°

तीय यी च़्य गो'र'व वो'न।
वुछ कर पो'ऽय दो'ध भ्यो'न।।
न्वन नेरि निर्मला'ऽय।।°°

गूव्यन्द प्राव सुधाम।
यथ वनान सन्त छि अन्नाम।।
छुय प्रणाम अद्ऽ च़्य दला'ऽय।।°°

13. कहानियों द्वारा गुरु मन्त्र का स्पष्टी करण ।

यह तो गुरु मन्त्र ही है जो सच मुच ही गागर में सागर का काम करता है नहीं तो इस मार्ग पर चलना अथाह समुद्र के मन्थन के समान होता है जो बड़ा ही कठिन कार्य होता है। इस कार्य को केवल पहुँचा हुआ कामिल सत्गुरु ही भक्तों का साथ तथा सहारा देकर सरल बना सकता है। वही सहज योग का मार्ग दिखा कर उन्हें सूरत-शब्द योग का अभ्यासी बनाकर उनके जीवन को सहज तथा सफल बनाता है। यहाँ पर संत कबीरदास जी महाराज के साथ घटी हुई घटना पर एक लघु कहानी प्रस्तुत है जो इस प्रकार है :-

एक बार एक प्रकाण्ड़ संस्कृत विद्वान् संत कबीर दास जी के पास जाकर उसे पूछने लगता है - "महाराज! आप क्या कर रहे हो?" संत कबीर दास जी ने बड़े विनम्र तथा शान्त स्वभाव से उत्तर में कहा - "अरे विद्वान्! मैं तो कुछ भी नहीं जानता हूँ। मैं तो केवल अपने आप को सांसारिक पदार्थों से विमुख करके सत्गुरु के चरणार्बिन्दु में लय करने का यावत मात्र प्रयास कर रहा हूँ और उसी लय में अपने को विलीन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मेंरे से इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता है और न ही मैं इसके अतिरिक्त कुछ जानता ही हूँ।" इस पर वह यह दोहा प्रस्तुत करता है :-

"आँख न खोलत ड़रपत।
अच्युत न होवे च्युत।।"

अर्थात् :- मैं आँखें इसलिए नहीं खोलता हूँ कि कहीं मेरे अभीष्ट दीव मेरे आँखों से ओझल न हो जाए।

इस विनम्र स्वभाव तथा सरल उपाय से उस विद्ववान् पर गहरा प्रभाव पड़ता है और सहज ही में उस विद्वान् के अहंकार को चूर करके उसे सच्चे तथा सहज मार्ग की ओर अग्रसर करता है। यही सन्त सत्गुरु की कृपा द्दष्टि का प्रभाव होता है कि संकेत मात्र से ही भक्तों को पूर्ण बनाता है। भूले भटकों को सही मार्ग पर लाता है। और उनको जन्म सफल बनाने में सहायक बनता है। इस प्रकार वह विद्वान अपने अहम को त्याग कर शीघ्र ही उसकी शरण में आता है और उसके साथ सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करने में सफल होता है। वह संत कबीर दास जी महाराज से मंत्र दीक्षा प्राप्त करके अमली तौर पर मंत्र जाप का महत्त्व समझ लेता है और उसकी अन्तर द्दष्टि खुल जाती है और वह वास्तविकता का आनन्द प्राप्त करता है। यह सब निश्चित रूप से गुरु मंत्र तथा गुरु कृपा दृष्टि के प्रभाव का प्रकट चमत्कार होता है।

गुरु मंत्र तो देखने में कुछ भी नहीं दीख पड़ता है। परन्तु यह एक अमूल्य तत्त्व होता है जो तन, मन और धन के अर्पण करने पर भी मिलना दुर्लभ ही होता है जब तक अंहभाव पूर्ण रूप से नहीं मिट जाता है और पूर्ण आत्म समर्पण का भाव नहीं आता है। यह मंत्र योग-साधाना की कुंजी होती है और मानव जीवन के अभीष्ठ लक्ष्य के प्राप्ति का साधन होता है।

इसी गुरु मन्त्र की विशेषता के बारे में एक और छोटी सी कहानी प्रस्तुत है :-

"एक शिष्य अपने गुरु की सेवा-सुश्रुषा तन-मन-धन से करता है। उसे अपने गुरु पर बहुत ही विश्वास तथा श्रद्धा भाव था। इस प्रकार दस बारह वर्ष तक वह बड़ी लगन तथा प्यार से उसकी सेवा करता गया। एक दिन उसे एक दूसरा सज्जन मिलता है जो उसे पूछता है कि क्या गुरु महाराज ने उसे कोई गुरु-मंत्र (शब्द) जपने के लिए दिया है अथवा नहीं? जब उसे पता लगता है कि गुरु शब्द भी कुछ होता है, तो वह सोचने लगता है कि इतनी सेवा सुश्रुषा करने पर भी उसे गुरु महाराज ने कोरे का कोरा ही रखा है। वह शीघ्र ही गुरु के पास जाता है और उसे विनम्र भाव से कहता है: "महाराज! मेरी आप से विनम्र विनती है कि आप महाराज ने मुझे कोई गुरु-मंत्र जपने के लिए नहीं दिया है। आप ने मुझे कोरे का कोरा ही रखा है।" इस पर गुरु महाराज ने उसे केवल इतना ही कहा कि "आप सायं को सारा काम काज समाप्त करके मेरे पास आना।" इस प्रकार जब वह सारा काम काज समाप्त करके गुरु महाराज के पास जाता है तो गुरु महाराज उसे कहता है कि "आप सुबह व शाम "राम-राम" का जाप करते रहना परन्तु यह रहस्य ही रखना और किसी अन्य व्यक्ति को इसका पता नहीं लगना चाहिए।" प्रातः सवेरे जब वह नदी तट पर स्नान आदि करके सँध्या करने बैठता है तो "राम-राम" का मंत्र जपने लगता है। वह दायें बायें सभी लोगों को "राम-राम" जपते हुए सुनता है और दुःखी हो जाता है कि गुरु महाराज ने मुझे ऐसा दूसरों से गुप्त रखने का उपदेश दिया था परन्तु सबों को इसका पता है। अतः इस से यह स्पष्ट है कि गुरु

महाराज ने मुझे वास्तविकता से अभी भी महरूम ही रखा है और असली रहस्य मुझ से छिपा कर ही रखा है। वह गुरु के पास जाकर कहने लगता है "महाराज! आप ने मुझ से अभी भी वास्तविकता छिपा कर रखी और मुझे फिर से धोखे में रखा। यह मंत्र जो आप महाराज ने बताया सबों को पता है। मैंने सबों को इसका उच्चारण करते हुए सुना।"

गुरु महाराज इस पर हँसते हैं और उसे एक पत्थर का टुकडा देकर कहते हैं कि आप पहले एक काम कर कि बाज़ार में जाकर इस पत्थर के टुकडे का मूल्य चुका कर आना परन्तु बेचना नहीं।" जब वह बाज़ार में उस पत्थर के टुकडे का मूल्य चुकाने के लिए जाता है तो कोई उसे कहता है कि वह इसका एक रूपया देगा, कोई दो रूपए देना मानता है। सब्ज़ी फरोश के पास जाता है तो वह ऐसा समझ कर कि यह 'वटा' (परमाना) के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है। पाँच रूपए देना मानता है। इस प्रकार कोई दस रूपए तो कोई सौ रूपए देने को राज़ी होता है। कोई दूसरा उसे एक हज़ार रूपए देना मानता है क्योंकि उसे यह अति सुन्दर-सा लगता है। अन्त में उसे सन्देह होता है तो वह सीधे ही लाल शनाख्त अर्थात् लाल फरोश के पास जाता है। वह इसे परख लेता है और पहचान कर दो-तीन लाख रूपए देना मानता है। वह बहुत ही प्रसन्न हो जाता है और दौड़ते-दौड़ते गुरु महाराज के पास जाता है और उसे कहने लगता है, "महाराज! हमें अब किस बात की चिन्ता है। अब हमें किस बात की ज़रूरत है। हमें इस पत्थर के टुकड़े से

दो-तीन लाख रूपये मिलेंगे। हम बड़ें आनन्द से निश्चिन्त जीवन व्यतीत करेंगे।"

परन्तु गुरु महाराज उसके देखते देखते ही इस पत्थर के टुकडे को नदी में फैंक देता है। इस पर उस शिष्य के आँखों में आँसों भर आए और गुरु महाराज की ओर आश्चर्य पूर्ण नेत्रों से देखते हुए कहने लगा, "महाराज! आप ने इसे नदी में फैंक कर आशाओं पर पानी फेर दिया जब कि हमें इतना धन मिलता कि हम मकान आदि बनाकर बहुत ही ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते और हमें किसी के सामने हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं रहती। हमारा जीवन आनन्द पूर्ण बन जाता।

इस पर गुरु महाराज फिर हँस पड़े और बोले, "राम का नाम भी ऐसा ही अमूल्य तत्त्व है जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तर तथा महान् से भी महान् तर है जो बाज़ार में कहीं नहीं बिकता है, चाहे कोई कितना भी मूल्य क्यों न दे परन्तु इसका मिलना अति दूर्लभ होता है। कोई कोई पारखी ही इसका वास्तविक मूल्य जानता है। ऐसा कोई बिरला ही है जो इसकी सार्थकता को पहचान सकता है। जो भी जीव इसका वास्तविक सार पहचान सकता है वही इस संसार रूपी सागर से पर हो सकते हैं तथा जन्म मरण के चक्कर से मुक्ति पार सकते हैं। इसी मन्त्र के विधि पूर्वक स्मरण मात्र से ही यह लोक भी सवँर सकता है तथा परलोक भी सुधर जाता हैं।"

14. गुरु मन्त्र पर स्वामी जी द्वारा रचित भजन और उसका विशेष प्रभाव

इसी विषय में हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल का यह भजन प्रस्तुत है :-

"लाल'ऽच कद्दिर मनुरुय ज़ाने।
अनज़्ा्ऽनिस निशे कने पल।।°°

स्वन'ऽच कद्दिर स्वनररुय ज़ाने।
खार क'वो ज़ाने स्वन त्र्ऽ सरतल।।°°

द्वीप'ऽच कद्दिर पोंपुर ज़ाने।
मच्छ क'वो ज़ाने पों'प्र्ऽरय गथ।।°°

कमल'ऽच कद्दिर बों'बुर ज़ाने।
मो'ह क'वो ज़ाने यम्ब'र ज़ल।।°°

पोशन कद्दिर बुल्बुल ज़ाने।।
काव क'ऽवो ज़ाने पोशे ड़ल।।°°

सिर्युक कद्दिर नेत्र्ऽ वोल ज़ाने।
ओ'न क'ऽवो ज़ाने रात्ऽम्वगुल।।°°

साध्ऽ सुन्द कद्दिर साधिय ज़ाने।
गूव्यन्द्ऽ साधिय पादिय छल।।°°

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'गुरु तथा 'गुरु मन्त्र' ऐसे महान् से भी महान् सार तत्त्व हैं जिनका शुद्ध रूप में प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ तथा कठिन हैं। इसी से वास्तविक सुख शान्ति तथा परम् तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है जिस से आवागमन का चक्कर मिट जाता

है। इस से विशेष सांसारिक तथा आध्यात्मिक बाधाएँ दूर होती हैं जो इस प्रकार हैं :-

1. अज्ञान (अविद्या) Ignorance;
2. भय (मृत्यु का ड़र) Fear to life;
3. चिन्ता (भविष्य में क्या?) Uncertainty;
4. तनाव (द्वन्द्वा द्वन्द्व) Stress & strain
5. आकाँक्षा (तृष्णा) Aspirations to achieve more & more
5. अहंकार (अहम्) Igo

----ooo----

ॐ R.S.

तृतीय खण्ड़

योग साधना के मुख्य केन्द्र
तथा
उनकी स्थितियाँ

1. स्वामी जी के भजनों के आधार पर मुख्य केन्द्रों का विवरण :–

योग साधना में मुख्य आन्तरिक केन्द्रों का विवरण परम् दयाल़ स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के बहुत सारे भजनों में स्पष्ट रूप से वर्णित हैं। इन में से कुछ भजन इस प्रकार हैं :–

(क) "दिहस अन्दर, हृदयस अन्दर, प्राणस अन्दर वुछ।
चम्कवुन छु पा्ऽन्य पानय, पानस अन्दर वुछ।।°°

त्र'शवा्ऽन्य अवस्थायन अन्दर, अवस्थायन ल्वभ।
सा्'क्षी सार्युक ज़ुव च्योनुय, ज्ञानस अन्दर वुछ।।°°

मूलाधारस नाभ्यस हृदयस कण्ठस भ्रूमध्ये।
प्यण्ड़-ब्रह्माण्ड़ अपोर आयस्थानस अंन्दर वुछ।।°°

यूगी पुरुष'व वुछमुत छुय सो'न्दर गूव्यन्दो।
सुय समा्ऽज़ अन्दर व्यथानस अन्दर वुछ।।°°

दूसरा एक और भजन इस प्रकार है :–

(ख) रोशि रोशि यिखना रूशमा्ऽते।
कम पोश लागय पम्पोश मत्ये।।°°

नाभिथाना्ऽ हृदकमल सहस्रदल।
त्रिकूटी मण्ड़ल सन्न्'ऽकुय दल।।
द्वादशि दल्ऽ क़े गोशा्ऽ मत्ये।।°°

हृदयुक पम्पोश पूज़ि लागय।
गो'ढ़ दिमय मानसरा्ऽ क्ये नागय।।
आगय क़्येय वुछिथ बऽ तोषा्ऽ मत्ये।।°°

ज़ोनमख ह्य शिवूऽ पननुय ज़ुव।
कान्ह दीवा दो'इम छुमना व्येय ह्युव।।
गूव्यन्दस यि ग'ऽव खोश मत्ये।।°°

तीसरे इस भजन में सहज योग को प्रकटाया है :-

१ विज़ि विज़ि वुज़ि शशकल तूऽ वज़ि ओ३मिय।
यिज़ि फीरिथ ना यिज़ि नज़ि पजि तमिय।।

(ग)२"अस्तूऽ अस्तूऽ खस्तूऽ बस्तूऽ
बस्तूऽ करू प्राणिय।
पदि प्यठ स्योऽथ भ्रूमध्य
ओ३म स्वरानिय।।
मथिमायि गाश आव
खोऽ'त चन्द्रमिय।।°°

वेरि च्याञि नेरि शेरि
मन्ज़ शेरि प्राणिय।
फ्येरि थो'रि अ'न्दय अ'न्दय
तुलि दुर्दानिय।।
सू हम सू स'ऽचनि स्यज़रि
तारह त्रमिय।।°°

हायि ज़ायि तिम नो गयि
यिम ग्वफायि चायि द्रायि।
पायि तुल आयि कर वायि
भर मूऽ शिनि शायि।।
नीरिथ फीरिथ भ्रूमध्य
मन्ज़ शमिय।।°°

गूव्यन्दूऽ सोरुय गूव्यन्द व्यन्दो।

आ्ऽ'खण्ड़ आनन्द छुख च़ऽ निर्द्वन्द्वो।।

त'स च़मि य'स नो च़मि यि्ऽ च़'मिय।।°°

2. **योग शास्त्र के आधार पर आन्तरिक योग स्थानः-**

इन भजनों में आन्तरिक केन्द्रों का वर्णन भी वही है जो यौग शास्त्रों में वर्णित है। योग शास्त्र के अनुसार भी इन आन्तरिक योग केन्द्रों का विवरण इस प्रकार है:-

1. **मूलाधार चक्र (चार दल);**
2. **स्वाधिष्ठाान चक्र (छः दल);**
3. **मणिपूर चक्र (दस दल); (नाभिस्थान)**
4. **अनाहत चक्र (बारह दल); (हृदयस्थल)**
5. **विशुदाख्य चक्र (सोलह दल); (मधिमा)**
6. **आज्ञा चक्र (दो दल); (भ्रूमध्य-त्रिकुटि)**
7. **शून्य चक्र (सहस्र दल);।**

इन्हीं केन्द्रों का वर्णन स्वामी जी के इन दो भजनों (क) और (ख) में मिलता है। इस तीसरे भजन (ग) में सत्गुरु महाराज का संकेत है कि चक्रों का ज्ञान आदि तो युक्ति युक्त है, परन्तु इस के लिए कठोर तपस्या और बहुत समय के परिश्रम की आवश्यकता है। इनको पार करना तथा इनका स्पष्टिकरन होना एक जन्म की बात नहीं अपितु जन्मान्तरों की बात है। अतः सीधे ही श्वास उश्वास द्वारा 'सो३हम' के जाप से भ्रूमध्य को केन्द्र बनाकर सभी केन्द्रों की यात्रा स्वतः सिद्ध ही तय हो जाती है। जैसे कहा भी गया है :-

"एकै : साध्यै सब सिद्धैः।"

अर्थात् :- एक के सिद्ध होने पर सब सिद्ध होता है।

केवल एक बिन्दु त्रिकुटि को केन्द्र बनाने से सब कुछ सत्गुरु कृपा से सहज ही में स्वतः स्यद्ध सिद्ध होता है। इसी बात का संकेत उपनिषदों में भी वर्णित है :-

"तम्-अक्रतुः पश्यति वीत शोकः
धातु प्रसादात् महिमानम् आत्मनः।।"

अर्थात् :- उस परम् शिवात्मक धाम को इच्छाओं के दमन से कोई बिरला महात्मा ही उस परम् ब्रह्म के अनुग्रह से ही देख सकता है।

अर्थात् :- बाह्याड़म्बर जगत को भूला हुआ तथा चिन्ता रहित कोई महान् साधक ही एक केन्द्र बिन्दु को लक्ष्य बनाकर सत्गुरु कृपा से पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अतः पहुँचे हुए सत्गुरु का कृपा पात्र बन कर केवल एक केन्द्र बिन्दु आज्ञा चक्र (भ्रूमध्य-चक्र) को ही केन्द्रित करके उस परम् तत्त्व को प्राप्त कर के पूर्णतः का आनन्द अनुभव करते हैं। यह तो पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों के फल का ही परिणाम होता है कि पहुँचा हुआ सत्गुरु मिल जाता है। उसी की कृपा दृष्टि से तथा विधि पूर्वक साधना द्वारा साधक ज्ञानोपार्जन प्राप्त करके सुष्मणा मार्ग में प्रवेश कर पाता है। वह प्राण व अपान रूपी जोड़े को ग्रास करता हुआ समाधी की अग्नि से बाह्य जगत् के आडम्बर को भस्म करके अन्तर्मुखी बनकर सहस्रार में परम् शिवात्मक धाम में प्रवेश करता है। इसके लिए सत्गुरु का अनुग्रह पात्र बनना परम् आवश्यक होता हैं नहीं तो यह अव्यक्त उपासना, योग साधना तथा कुण्ड़लिनी जाग्रण ग्रहस्थ जीवियों को विशेषकर देह धारियों के लिए कष्ट प्रद व कष्ट साध्य है। क्योंकि देह धारियों की अभिमान शीध्र ही घेर लेता

है जिसका मिटाना बहुत ही कठिन होता है। इसका उपाय केवल सत्गुरु प्रसाद ही होता है। यही बात श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस श्लोक में समझाता है :-

"अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहवद्भिर अवाप्यते।।"

अर्थात् :- उस अव्यक्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परम ब्रह्म की प्राप्ति देह धारियों के लिए कष्ट प्रद है। क्योंकि देहवद्भिः अर्थात् देह अभिमानियों द्वारा अव्यक्त गति अर्थात् निराकार परम् ब्रह्म तक पहुँचना दुष्कर होता है। अभिमान के कारण उनका बार बार पत्न होता है और वह वास्तविकता से वञ्चित रहते हैं।

इसी परम् गति (अव्यक्त गति) की प्राप्ति के बारे में कठोपनिषद् से भी यह श्लोक प्रस्तुत है जिसमें इसी बात की पुष्टि है :-

"यदा पञ्च अवतिष्ठन्ते
ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति
तामाहुः परमां गतिम्।।"

अर्थात् :- जब पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ मन के समेत आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है उसी अवस्था को परम् गति कहते हैं। ऐसी धारणा को ही योग कहते हैं। इसी अवस्था में साधक प्रमाद रहित होता है।

वास्तव में इन चक्र बिन्दुओं को केन्द्रित करने का लक्ष्य यही होता है। परन्तु पहले ही चक्र बिन्दु मूलाधार

के स्पष्ट होने पर ही अष्टसिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं जिस से अवश्य ही मनुष्य अभिमान ग्रस्त हो जाता है। मनुष्य इसी को सर्वस्व (सब कुछ) समझ बैठता है और इसी के पीछे लग जाता है। आगे बड़ने की उसे सुध ही नहीं रहती। वह आगे बड़ने का नाम ही नहीं लेता। इसीलिए सत्गुरु प्रेम, सत्गुरु कृपा और एक चक्र बिन्दु त्रिकुटि का ध्यान विशेष महत्त्व रखता है। इस से अभिमान की वृत्ति, (जो "परम् गति" की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती है) मिट जाती है। परम् पूज्य श्री स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में इसी भाव का संकेत है :-

"सन्तो व'न्य ह्यू पन्ऽनिस पानस,
पन्ऽनिस पानस तीलिज़्ये।।
पन्ऽनिस पानस, पन्ऽनिस पानस,
श्री भगवानस मीलिज़्ये।।

पूर्ऽ सूर क'र्यज़े दिह अभिमानस,
संतन स्यी'ती शिहीलज़्ये।
ज़िन्द्ऽ म'र प्राऽविज़ि शिवनिर्वाणस।।°°

भ्रम्ऽ रो'स रोज़ मंज़ आत्म्ऽ ध्यानस,
शीनिक्य पा्'ठ्य कुम'लिज़्ये।।
कल्याणऽघन रोज़ मंज कल्याणस।।°°

ल'स बा ह्यस क'र ख'स असमानस,
सत् शब्दस सी'त्य ख्यीलिज़्ये।
वापस म्ऽ वस बस आयस थानस।।°°

हिशर गव समा्ज़्य व्यथानस,

सत्‌ स्वरूपस तीलिज़्ये।

गूव्यन्द्ऽ वनत्ऽ यछ़ि कस भाग्यवानस।।°°

3. परम् तत्त्व तथा तत्त्व ज्ञान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन पाँच तत्त्वों का जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश का यह शरीर बना हुआ है, जिन पर इन चक्र बिन्दुओं की उपासना से विजय प्राप्त होती है तथा अष्ट सिद्धियों को वश में किया जाता है, उनकी कोई सत्ता ही नहीं रहती है जब उस 'परम् तत्त्व' का चिदाकाश में साक्षात्कार होता है। ऐसा सत्गुरु के अगाध प्रेम तथा एक केन्द्र बिन्दु भ्रूमध्य पर ध्यान स्थिर करने से सहज ही में प्राप्त हो सकता है। इसी का संकेत मुकुंदमाला के इस श्लोक में मिलता है जो इस प्रकार हैः–

"पृथ्वीरेणुर् अणुः पयांसि कणिका
फल्गुः स्फलिंगो लघुस्तेजो
निःश्वसनं मरुत्–तनुतरं
रन्ध्रं सुसूक्ष्मं नभः।"

अर्थात्ः– 'परम तत्त्व' के साक्षात्कार होने पर पृथ्वी धूल का एक कण दीख पड़ता है, विशाल सागर छोटे जल का एक बूँद दिखाई देता है, आग छोटी चिंगारी जैसी दीख पड़ती है, वायु एक साँस जैसा लगता है तथा आकाश एक छोटा सुराख देखने में आता है।

कठोपनिषद् के इस श्लोक में भी इसी की ओर संकेत है :–

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तम् एव भान्तम्-अनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वम्-इदं विभाति।।"

अर्थात् :- वहाँ उस परम् तत्त्व प्रकाश के सामने सूर्य ख़द्योत (जुगनू) जैसा प्रतीत होता है, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत ही चमचमाती है; फिर इस अग्नि की बात ही क्या है? यह सूर्य आदि जो कुछ प्रकाशित हो रहे हैं वे सब उस परमात्मा के प्रकाशित होते हुए ही अनुभासित हो रहे हैं।

बृहथ उपनिषद् का यह श्लोक भी इन तत्त्वों की ओर ही संकेत है :-

"यस्य पृथिव शरीरं, यस्य
आपः शरीरं, यस्य अग्निः
शरीरं, यस्य अन्तरिक्षं
शरीरम्, यस्य वायुः शरीरम्।

अर्थात् :- साकार स्वरूप के सम्बंध में वेदों का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह सब तत्त्व उस ब्रह्म के अथवा उस पराशक्ति के शरीर हैं। अतः इस प्रत्यक्ष शरीरधारी रूप में उसको जानना सरल है।

इस प्रकार योग शास्त्र के अनुसार जब योगी अभ्यास में लग जाता है तो मूलाधार में ही ध्यान स्थिर होने पर मंत्र जाप की ध्वनि तीव्र रूप से सुनाई देने लगती है। इस मार्ग पर थोड़ा अग्रसर होते ही घंटा, शंख आदि की ध्वनियाँ होने लगती हैं और साधक उनकी ओर ही लग जाता है। वह इसी को सब कुछ समझ बैठता है और वास्तविकता से वञ्चित रहता है। वह पृथ्वी तत्त्व पर विजय पाकर वाक् सिद्धि प्राप्त करता है और अहंकारी बनकर इसी के पीछे लग जाता

है जो साधक के लिए बाधक बनता है। उस को लक्ष्य प्राप्ति का ध्यान ही नहीं रहता है। परन्तु साधक को इनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देना होता है केवल लक्ष्य प्राप्ति की ओर ही अग्रसर होना होता है। उसी परम् तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करना होता है जो इन सभी तत्त्वों तथा चमत्कारों व सिद्धियों का अधिष्ठाता है। इस के लिए शरणागत भाव तथा सत्गुरु का अगाध प्रेम ही महत्त्वपूर्ण होता है।

कठोपनिषद् में भी इसका वर्णन इस प्रकार आया है:-

"नीहार धूमार्क अनिला नलानां,
खद्योत विद्युत स्फटिक शशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि,
ब्रह्माण्यभिव्यक्ति कराणि योगे।।"

अर्थात् :- योगाम्यास द्वारा होने वाले अनुभव में जो कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिक मणि, चन्द्रमा आदि के रूप प्रकट होते हैं वे सभी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति होती है। अतः इनकी ओर ध्यान न देकर केवल ब्रह्म की ही प्राप्ति में लगना होता है। यही वास्तविकता है।

भगवान् पराशर का भी कहना है, "परा शक्ति से ही विश्व उत्पन्न होता है और इसी में विलीन हो जाता है। आत्मा का न ज्ञान होता है, न बन्धन और न मोक्ष ही होता है। वह तो परमात्मा में ही लय होता है। वह न कर्त्ता है, न भोक्ता है, न प्रकृति है अथवा न पुरुष है, न माया है और न प्राण है। वस्तुतः वह चैतन्य है। चैतन्य आत्मा तो स्वभावतः कूटस्थ अर्थात् सर्वोपरि,

निर्गुण तथा सर्वव्यापक है।"

इसी बात को स्वामी जी महाराज परम् दयाल गोविन्द कोल जी ने इस भजन में इस प्रकार दर्शाया है:–

"वुछ आकाश्ऽ गंगा अजा'इब नज़ारय।
वनन संत इशारय हुशियारन कुनिय।।

उद्धय गयि सिरिये हज़ाराँ हज़ारय।
सपुद तीज़क्यन फँवारन कुनिय।
द्युतुय चाँदनिये ़्व्वपाऽरी छकारय।।°°

चूऽ छ़ार सार वस्तु यि हो छुय
असारय।
फ़क्त मो मह'व गछ़
नज़ारन कुनिय।
अभ्यासिस रुकावट वत्ये मंज़
यि वारय।।°°

सत्ये लूक खसबा अगमिय
अपारय।
वो'नुय गूव्यन्दनिय यि
यारन कुनिय।
अन्नामय बगा'र नो करुन
कुनि करारय।।°°

इसी तथ्य की पुष्टि उपनिषद् के इस श्लोक से होती है:–

"एकस्त्था सर्वं भूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।।"

अर्थात् :– एक ही 'परा तत्व' सारे ब्रह्माण्ड़ में व्याप्त है।

जब वह साकार रूप में प्रज्चलित होता है तब उन आधार भूत वस्तुओं जैसे आकार का होता है। जो कोई भी प्रकाशवान् वस्तु है वह उस चिदाकाश परब्रह्म के प्रकाश से ही प्रकाशित है। इसी में विलीन होना ही वास्तविकता है।

यही भाव हमारे परम् गुरु दाता दयाल महर्षि शिब्रतलाल जी महारज के इस भजन से स्पष्ट है :-

"नमो सत्गुरुम सच्चिदानन्द रूपम।
नमो अद्भुतम अद्वितीयम अनूपम।।

नहीं रूप कोई है सब रूप तेरे।
तेरी सब ही प्रजा है और भूप तेरे।।

झुकें राधा स्वामी चरण
हंसते हंसते।
तुझे कहते हैं सब
नमस्ते नमस्ते।।"

अर्थात् :- वह 'परा शक्ति' जो है वह लासानी, आश्चर्यपूर्ण तथा परमानन्द देने वाला है। जो सत्गुरु इस पद की प्राप्ति का मार्ग दर्शाते हैं उनको कोटि कोटि प्रणाम हैं। सृष्टि के जितने भी रूप हैं उन सब में व्याप्त तथा उन सब का आधिष्ठाता यही अव्यक्त रूप 'परा तत्व' ही है। उसी राध-स्वामी स्वरूप को हमारा साष्टांग नमन है।

इसमें दाता दयाल ने दर्शाया है कि 'सँवित' शक्ति एक है जो भिन्न भिन्न प्राणियों में नाना प्रकार के रूपों में प्रकाशित होती है। इसी प्रकार अन्तर में भी भिन्न भिन्न योग स्थानों में भी इसी एक ही 'सँवित' शक्ति का

विस्तार है। जिसका प्रकटाना तथा इसी में लय होना ही साधक का वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए।

पूज्यनीय लल्लेश्वरी माता का भी यही कथन है कि "बहुत जन्मों में घूम कर मैंने उस 'परम तत्व' अर्थात् 'संवित शक्ति' को अपने शरीर रूपी मन्दिर में अपने ही रूप में प्रकट रूप से पाया।

"शिवोहम्!" से उसका यही तात्पर्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी 'संवित् शक्ति' के बारे में इस प्रकार का वर्णन है :-

"आश्चर्यवत् वदति
तथैव च अन्यः।
आश्चर्यवत् च एनम्
अन्यः श्रृणोति
श्रुत्वा अपि एनम् वेद[1] न चैव कश्चित्।।"

अर्थात् :- यह आत्म तत्व बड़ा ही गहन है। कोई इस शक्ति की ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखता है, कोई इसका वर्णन आश्चर्य पूर्ण ढंग से करता है तथा कोई इसका आश्चर्यपूर्ण वर्णन सुनता है। परन्तु सुनकर भी कोई इसको नहीं जानता है। वेद[1] जानता[1]

इसी 'संवित शक्ति' अर्थात् ब्रह्मात्म ज्ञान द्वारा ही अन्तः करण के अज्ञान व अहंकार को मिटाया जा सकता है। जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक से विदित है:-

"ज्ञानेन तु तत् अज्ञानं
येषां नाशितम् आत्मनः।
तेषां आदित्य वत् ज्ञानं
प्रकाशयति तत्परम्।।"

अर्थात् :- अहंकार वश इन दृश्यों तथा ध्वनियों से मोहित होकर जिनका अन्तः करण का वह ब्रह्मात्म ज्ञान अज्ञान द्वारा नष्ट हुआ होता है, उनका वह ज्ञान त्याग भावना द्वारा सूर्य के सदृश उस सत्‌चित् आनन्दघन परमात्मा को प्रकाशता है अर्थात् उस परम् तत्व स्वरूप का साक्षात्कार कराता है।

इसी भाव का वर्णन हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविद कोल जी के इन भजनों से प्रकट है:-

(क) "च़मि तस्य च़म इयस न वनि।
वुछ हनि हनि सदाशिव।।°°
पान्ऽ सान ज़ोन शिविय सोर।
यी यूग क्वर असि पान तोर।
ज़ो'ऽप सूहम च़'ज्य दुय मनि।।°°

ज़ल्ऽ मंज़ऽ पद्म पत्र वत्।
निर्लीप ख्यथ च्यथ दिथ तय ह्यथ।
सत् च़्यत् आनन्द च़्येय वनि।।°°

ग्वलुय यस अहम् भाव
वनि हनि हनि तस शिविय आव।
च़ख दुय त्राव छुय ब्रोंठ्ऽ कनि।।°°

गूव्यन्द मत कर कुछ।
करनस त्ऽ न'ऽ करनस वुछ।।
यि करुन ति पानय छूयनि।।°°
(ख) "रुम्ऽ रुमय ओ३म बोल्ऽनाव।
लोल्ऽ ललऽनाव सू सू।।°°

सत् धाम वात पख जल जल।
स्यख्नियन हि'न्ज त्राव कल।
दर्ऽवाज़स तल ड़ोल्ऽनाव।।°°

वथ छय अ'च़ मंज़ नाद्ऽब्यन्द।
शब्द्ऽ स्यन्ध द्राव नाद्ऽब्यन्द।
गो'रऽ सुन्द गूव्यन्द्ऽ कोल नाव।।°°"

(ग) "सोज़्ऽ सी्ऽ'त्य रोज़ बेदार सो'न्दरो।
रिन्दन हुन्द छु ती कार सो'न्दरो।

स्वरूप आश्च़र च्योनुय छुय अमर।
चूऽति क'र साक्षात्कार सोन्दरो।।°°

वा्ऽतिज़ि अन्नाम गो'रनिय दि प्रणाम।
सत् धाम गो'र्ऽ सुन्द द्वार सो'न्दरो।।°°

गूव्यन्द्ऽ क'र सर्ऽ च़ल्ऽनय अर्ऽ सुरऽ।
सत्गो'र्ऽ शब्दिय सार सो'न्दरो।।°°

---oo---

इसी 'तत्व ज्ञान' के सम्बन्ध में शिव महिम्नस्तोत्र का यह श्लोक प्रस्तुत है :-

"त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमुधर णिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता विभ्रतु गिरं
न विद्मस्त्त्त्वं वयमिह तु यत्वं न भवसि।।"

अर्थात् :- तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम वायु हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम ही

पृथ्वी हो और तुम आत्मा हो। इस विश्व में कोई ऐसा तत्त्व नहीं जो तुम नहीं हो अर्थात् हम तो आपको सर्वत्र व्यापक समझते हैं। और वह 'आप' तो परम तत्त्व ही है जिस का अनुभव होते ही योगी को हर्ष से रोम रोम पुलकित हो जाते हैं और नेत्रों से आनन्द का आँसू बहते हैं। अतः इस प्रकार इन तत्त्वों का समन्वय सन्तुलन तथा ज्ञान लक्ष्य पूर्ति के लिए अनिवार्य है। इसी से पञ्चभूतात्मक सृष्टि का निर्माण हुआ है।

4. **हिरण्यागर्भ की अभिव्यक्ति।**

इस प्रकार जब योग अभ्यास द्वारा 'परम तत्त्व' की पहचान से ऊपरी मण्ड़लों को पार कर लेते हैं तो हम में और मालिक में कोई अन्तर नहीं रहता है, अर्थात् आत्मा-परमात्मा का एकी भाव हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें न आदि है, न अन्त है न मध्य है, न एक है, न दो है। **"ओ३मकारऽ आधारऽ आदि दीवय, आदि, अन्ति रस्ति आनन्दों हो"।** इस अवस्था को जो भी प्राप्त होते हैं उनका मन इन्द्रियों सहित वश में हो जाता है। उनका अहंकार मिट जाता है और उनकी बुद्धि चेष्टा हीन हो जाती है। उनको यह आन्तरिक दृश्य तथा ध्वनियाँ तनिक भी विचलित नहीं कर सकते हैं। उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य इसी 'संवित शक्ति' में समाना होता है। योग शास्त्र के अनुसार इस 'संवित शक्ति' को प्राप्त करने का साधन कुण्ड़लिनी शक्ति का जागृत होना है। ब्रह्माण्ड़ में जो विश्व व्यापिनी 'विद्युत' शक्ति है वही मानव पिण्ड़ में कुण्ड़लिनी के रूप में ठहरी हुई है, जो रोशनी से भी अधिक तेज़ गति वाली है। इस की गति प्रति सैकण्ड़

25000 मील है। यही कुण्ड़लिनी शक्ति मानव शरीर में एक गुप्त खज़ाना है। इस परम् तेज का साक्षात्कार करना परम् पद की प्राप्ति के लिए अनिवार्य होता है। ऐसा या तो हठ योग द्वारा हो सकता है अथवा सहज योग द्वारा हो सकता है।

हठ योग तो एक ग्रहस्थी साधक के लिए कष्ट प्रद होता है क्योंकि इस में कदम कदम पर परीक्षाएँ होती हैं। इस में अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो देह धारी के लिए अन्त तक निभाना कठिन होता है। विशेषकर ग्रहस्थ जीवी के लिए यह दुष्कर होता है। अतः उनके लिए यह स्थाई अर्थात् दाईमी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी लिए साँसारी तथा ग्रहस्थ जीवी के लिए सहज–योग, जो सूरत–शब्द योग ही होता है, सरल, आनन्द दायक तथा स्थाई भी होता है, को अपनाना उचित होता है। इस में सत्गुरु कृपा विशेष कार्य निभाता है जिस से मानव के लिए परम् तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग सरल तथा स्थायी व निश्चित बनता है। इसी से आन्तरिक विद्युत शक्ति का बाहिरी विद्युत शक्ति के साथ स्थाई सम्बन्ध स्थापित होता है जिस से अपना ही स्वरूप सर्वत्र दिखाई देता है। इसी अवस्था को हिरण्यागर्भ की अभिव्यक्ति कहा जाता है और यही मानव जीवन का अभीष्ठ लक्ष्य होता है।

5. कुण्ड़लिनी शक्ति का विवरण तथा जागरण।

अब यहाँ पर इस कुण्ड़लिनी जाग्रति का ब्योरा, जो पहले भी दिया गया है, स्पष्ट रूप से दिया जाता है:–

"यह कुण्ड़लिनी चार पातों वाले मुलाधार चक्र से निकल कर छः दलों वाले स्वाधिष्ठान चक्र के दो तिकोनों में खिली हुई रहती है। वहाँ से ही विकसित होकर दशदल रूपी मणिपुर चक्र अर्थात् नाभिस्थान, फिर द्वादश दल अनाहत् चक्र अर्थात् हृदयस्थल से होती हुई षोड़ष पतों वाले विशुद्धाख्य चक्र अर्थात् मधिमा से होकर नासिका दृष्टि तथा सूहम जाप द्वारा दो पत्तों वाले आज्ञा चक्र अर्थात् भ्रूमध्य (त्रिकुटि) में साकार स्वरूप बनकर 'संवित शक्ति' का रूप धारण करके सुष्मणा नाड़ी अर्थात् ब्रह्म नाडी द्वारा सहस्र दल से होते हुए सहस्रार में प्रकाशित होकर उसकी विक्षिप्तता (हल चल) दूर करके बाहिरी विद्युत शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करके उसी में विलीन होने लगती है। इसी को हिरण्या-गर्भ की संज्ञा दी जाती है। इसी को शाम्भवी अवस्था भी कहते हैं अथवा चित्त निरुद्ध वृत्ति कहते हैं।

पिण्ड़ में छः चक्र होते हैं। चक्र का अर्थ केन्द्र, कमल अथवा पहिया होता है। इन छः चक्रों के 'स्थान', स्वामी और 'कार्य' को इस रेखा चित्र से स्पष्ट किया जाता है :-

क्र० सं०	नाम केन्द्र	स्थान विवरण	स्वामी	कार्य
1.	मूलाधार चक्र	(गुदा) 4–दल लाल सिंदूरी	श्री गणेश जी	शरीर के मल का निष्कास
2.	स्वाधिष्ठान चक्र	(जनेनन्द्रिय) 6–दल हल्का काला	श्री ब्रह्मा जी	स्थूल शरीर की रचना
3.	मणिपूरक चक्र	(नाभि) 8–दल गहरा लाल	श्री हरिः विष्णु	स्थूल शरीर का पालन पोषण
4.	अनाहत् चक्र	(हृदय गुहा) 12–दल नीला	श्री शिव जी महाराज	स्थूल शरीर की रक्षा तथा संहार
5.	विशुदाख्य चक्र	(कंठ) 16–दल गहरा नीला	श्री वैखुरी शक्ति माता	न्यून मात्रा में निर्माण–कारी धारा
6.	आज्ञा चक्र	(भ्रूमध्य) 2–दल श्वेत	आत्म देव	शरीर को चेतन शक्ति प्रदान करना

इन चक्रों की स्थिति अभ्यास द्वारा ही स्पष्ट रूप से समझ में आती है जो इस प्रकार की होती है। मूलाधार में ध्यान स्थिर होने पर कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने में आती हैं। इन ध्वनियों के लय तथा शान्त होने पर अनाहत् चक्र में यह ध्वनियाँ फिर स्पष्ट रूप से सुनने को मिलती हैं। जैसे घंटा-शंख आदि ध्वनियाँ। इनके साथ में शिव प्रकाश पूँज दिखाई देने लगता है। यह भी क्षणिक ही होता है। उनके लय होने पर विशुदाख्य चक्र में ध्यान के स्थिर होने पर चिन्गारी जैसी प्रकट होती जो नासिका दृष्टि से ऊपर चढ़कर आज्ञा चक्र में 'सोऽहम' जाप द्वारा प्रकाश स्वरूप बन कर सत्गुरु का आभास होने लगता है। इसी के सहारे चित्त-विमर्श से जानी हुई ब्रह्मरन्ध्र में ठहरी हुई 'संवित शक्ति' (ईशान) का योगीजन अमृत पान करते हैं। यही मानव जीवन को सफल बनाने का विशेष केन्द्र है। अतः इसी एक बिन्दु को केन्द्र मान कर शनैः शनैः सब कुछ प्रत्यक्ष उत्कृष्ठ स्वरूप धारण होने लगता है। यहाँ से सत्गुरु का आसरा सहायक सिद्ध होता है। यहाँ से मन का साथ छूट कर केवल आत्मानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। इसी रसास्वादन को अपरोक्ष ज्ञान की संज्ञा दी जाती है जिसका वर्णन पहले ही आया है।

इस कुण्ड़लिनी शक्ति की स्थिति ऐसी होती है कि जब तक यह सुप्त रहती है तब तक इन षड्र् कमलों को षट्-चक्र कहते हैं और जब जागृत होती है तो इनको षड्दल कमल कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उद्धय होते ही कमल के फूल के पत्ते खिल उठते हैं, ठीक उसी

प्रकार कुण्ड़लिनी के जागृत होने पर यह कमल रूपी चक्र खिल उठते हैं और मनुष्य में स्फूर्ति तथा आनन्द की रेखा अनुभव होने लगती हैं। परन्तु इसमें निःस्वार्थ भाव, निष्काम अभ्यास, सत्गुरु का अगाध प्रेम और अद्वैत भाव अर्थात् ब्रह्म भाव का होना अनिवार्य है। इसी के सम्बन्ध में हमारे पूज्य सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी का यह भजन प्रस्तुत है:-

"अचू अन्दर शेर बन्दर,
ब्यन्द्ऽ कि'नी वथ छ'यो।
च़ेय'च अन्दर छु यूम्चन्दर।।

गोऽ'र अद्ऽ भावी सो'य कथ,
प्रकृत येऽ'लि छ़लख्'ऽय।
ह्यस ह्यथ खस ब्रंह्मरन्द्र।।°°

वुछ सत्गो'ऽर खस गगनस,
सत्पुरुषस कर प्रणाम।
मंज़ कमलस शुक्ल्ऽ सो'न्दर।।°°

सत्चित् गोऽ'र छुय अन्दर,
आनन्द्ऽ समन्दर।
अति सोन्ऽदर मनि मन्दर।।°°

अथि तस आव करि युस सर्ऽ
अर्ऽ सर्ऽ तस च़ल्ययो।
गूव्यन्द्ऽ घरि छुय समन्दर।।°°

इसी प्रकार अभ्यास की अनिवार्यता पर इस भजन में प्रकाश ड़ाला गया है :-

"अलिमय ख्वत्ऽ ब'ऽड़ छ'य अमल।
ज़ीवन सफल छुय हा च्योन।।°°
बोज़बा ह्यो'त फेर मो प्वत,
ल्वत ल्वत ल्वत दि कदम।
त्वत वातख यो'त करख कल।।°°
हम त्रा'विथ सूच्या्'विथ
लल्ऽना्'निथ सू सू।
फ्वल्ऽ ना्'विथ हृदय्ऽ कमल।।°°
बुम्य पोश फ्वल अनिग्वट च़्वल,
ग्वल राह व्वल जूने।
रो'ल तीज़स तीज़्ऽ मण्ड़ल।।°°
खस गगनस द्वाद्ऽ शान्तस,
बस तूर्य योर मो वस।
च्यसा'ऽ अमृत बन न्यष्कल।।°°
मुच़राव तोर करबा ज़ोर,
शोर बूज़िथ म्ऽ गाबर।
तोर रछियो गो'र च्य़ कीवल।।°°
शब्दस न्ऽ छ्यन रात्र-द्यन,
कनथव मन कर लीन।
चम्कन बिजली वुज़मल।।°°
गूव्यन्द न्यत् गयियो सथ,
छु वज़न सत् शब्दिय।
सत्गो'रनिय ह्यथ पनुन बल"।।°°

6. संवित शक्ति का संक्षिप्त विवरणः-

इस 'संवित शक्ति' के स्वरूप के बारे में उपनिषद् में भी इस प्रकार वर्णन है :-

"अणोरणीयान् महत्तो महीयान्।"

अर्थात् :- 'संवित् शक्ति' अर्थात् आत्म शक्ति अणु से भी अणुतर अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महत् तर है।

"आत्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।।"

अर्थात् :- यही आत्मा सम्पूर्ण प्राणि समुदाय की हृदय रूपी गुहा (गुफा) में स्थित है। अर्थात् प्रत्येक जीव में यह आत्म शक्ति अन्तरात्मा रूप से निहित है। ऐसा जानकर मुनष्य आत्मा की महिमा को देखता है और वह शोक रहित हो जाता है। केवल निःस्वार्थ अभ्यास तथा निष्काम भावना की आवश्यकता है।

इस सत्य स्वरूप परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए ढ़क्कन रूपी योगनियों अर्थात् अष्ट-सिद्धियों तथा नव निधियों की कामनाओं को क्रमशः हटाना तथा त्यागना होता है। इनको ठुकराने पर ही साधक उस परम् ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार किसी तेज़ रोशनी वाले लैम्प पर मोटे मोटे दस-बीस पर्दे चढ़ा दें तो जहाँ कहीं भी लैम्प को ले जाएँगे वहाँ कोई प्रकाश नहीं होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों पर्दे हटाते जाएँगे रोशनी की किरणें प्रकट होने लगेंगे। जब सभी पर्दे हटायें जायेंगे तो लैम्प पूरा प्रकाश देने लगेगा। यही दशा इस आत्म प्रकाश की भी है। जब तक अन्तर का सारा विषय-वासना रूपी मल नहीं हट जाता है तब तक इसका स्पष्ट रूप से प्रकट होना सम्भव ही नहीं

होता है। इनके हटते ही साधना तथा आत्म-ज्ञान द्वारा सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश होकर साधक पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी बनकर सहस्रार में सत्गुरु कृपा दृष्टि से परम् शिवात्मक धाम में प्रवेश पा सकता है। यही मनुष्य जन्म का वास्तविक लक्ष्य होता है। परन्तु इसी वासतविकता की ओर कोई कोई ही ध्यान देता है। इस की अभिव्यक्ति अभ्यास द्वारा होती है जो इस प्रकार है :-

मधिमा में ही वैखरी के उजागर होने पर आज्ञा चक्र में 'परा वाणी' का संचार होता है और पाचों नामों का एक होने पर 'संवित शक्ति' उजागर होती है। यहाँ पिण्ड़ देश से निकल कर ब्रह्माण्ड देश की यात्रा आरम्भ होने लगती है जो मन तथा वाणी से परे की यात्रा होती है। इसमें केवल प्राणों का सहारा होता है जो सत्गुरु मेहर पर ही आधारित होता है। सत्गुरु कृपा से ही साधक को भँवर गुफा से लाँध कर सुन्न-महासुन्न में सहस्रदल कमल के खिलने का आभास होने लगता है और वह आनन्द विभोर हो जाता है। इसी को राधा स्वामी मत में दयाल देश अर्थात् परम-धाम अथवा धुर-धाम कहा जाता है। इसी को अगम, अन्नाम, अलख, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्दघन धुरपद आदि कहते हैं। इस पद की प्राप्त सत्गुरु कृपा द्दष्टि पर ही आधारित होती है। कोई विरला निष्ठावान व्यक्ति ही सत्गुरु का कृपा पात्र बनकर स्वतः सिद्ध ही सहजयोग द्वारा इस स्थिति तक पहुँच पाता है।

7. **सत्गुरु कृपा की अभिव्यक्ति पर एक लघु कहानी।**

कृपा पात्र से तात्पर्य है - सखापन, मित्रता, यारी। इसके अन्तर्गत निम्न लिखित सात विशेषताएँ आती

हैं:-

1. सहानुभूति-हमदर्दी (sympathy)
2. अलौकिक प्रेम-ईश्वरी प्रेम (sincere love,
3. मधुरता-मिठास (sweatness)
4. नम्रता-सहनशीलता (endurance)
5. आत्म समर्पण (self-sacrifice)
6. ज्ञानोपार्जन (self realisation and its knowledge)
7. एकीकरण (spiritual bondage)

सत्गुरु कृपा दृष्टि पर बहुत कुछ निर्धारित है जिसका लक्ष्य एकीकरण का भाव है। एकीकरण से तात्पर्य है:-

आत्मा-परमात्मा का एक होना, हर ओर से आत्म स्वरूप की झलक तथा इश्वरी स्वरूप का प्रकटीकरण अर्थात् ब्रह्मात्म साक्षात्कार के होने से है। रामायण में भी श्री राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान जी का सम्बन्ध इसी बात को प्रकटाता है। श्री राम जी ज्ञान तथा आनन्द का प्रतीक है, सीता माता जी भक्ति तथा श्रद्धा की प्रतीक, श्री लक्ष्मण जी वैराग्य तथा सेवा का प्रतीक, और श्री हुनुमान जी बल-दृढ़ संकल्प-पाप-शाप संकट मोचन का प्रतीक है। दशरावण दुराचार का प्रतीक जो अपने दुराचार के कारण अपनी तीन अभिलाषाएँ पूर्ण न कर सका। १. सोने में सुगन्धि पैदा करना; २. आकाश तक सीढ़ी लगाना ३. अग्नी से धुआँ हटाना। वह पूर्ण भक्त तथा अभ्यासी था। अतः सब कुछ कर सकता था। परन्तु दुराचारी होने के कारण कृपा पात्र न बन सका। यह सब कृपा पात्र के अन्तर्गत आता है जिस पर मानव कल्याण तथा मार्यादा का पालन आधारित

है। यहाँ पर इसी सत्गुरु कृपा के बारे में एक लघु कहानी प्रस्तुत है :-

"एक समय ऐसी घटना हुई कि एक शिष्य को सत्गुरु ने 'शब्द-नाम' की दीक्षा देकर उस के विधि पूर्वक अभ्यास करने को कहा। वह सत्गुरु कामिल पहुँचा हुआ था। उस को इस शिष्य के प्रति सहानुभूति उम्मड़ आई और वह उसका वास्तविक उद्धार करना चाहता था। परन्तु उस शिष्य ने 'गुरु दीक्षा' की ओर विशेष ध्यान न देकर आनाकानी ही की। कुछ समय के पश्चात् गुरु ने शिष्य को एक छाननी देकर नहर से इस में पानी भर कर लाने के लिए कहा। शिष्य उचम्भे में रहा परन्तु उसे गुरु पर अपार श्रद्धा थी। इसी लिए वह कुछ कहे सुने बिना ही चल पड़ा। शिष्य जब पानी भर कर छाननी को ऊपर उठाता था पानी रिस कर नीचे से छन छन करके गिर पड़ता था। वह बार बार प्रयत्न करता गया परन्तु पानी उस में भर कर नहीं ला सका। गुरु के पास पहुँचा तो गुरु ने कहा कि आप की साधना व्यर्थ तथा निष्फल प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि आप में श्रद्धा-भक्ति तो है परन्तु विश्वास कम है। साथ ही साथ हाव-भाव की मात्रा भी अधिक है। ऐसा कह कर उसे मन लगा कर अभ्यास में झुट जाने का उपदेश दिया। गुरु कृपा दृष्टि का प्रभाव ऐसा हुआ कि उसमें दृढ़ सकंल्प, श्रद्धा, भक्ति तथा विश्वास जागृत हुआ और साथ ही साथ आत्म समर्पण का भाव भी उजागर हुआ। इस प्रकार गुरु कृपा का पात्र बन कर दिल लगा कर अभ्यास करता गया। उसमें लगन तथा एकाग्रता आई और अभ्यास भी फलीभूत होने लगा। अब की

बार गुरु देव ने उसे वही छाननी देकर पानी भर कर लाने को कहा। शिष्य भी बिना झिझक के पानी लाने के लिए चल पड़ा तो वह क्या पाता है कि जब वह पानी भर देता है तो छाननी के सभी छेद अर्थात् सुराख इस प्रकार सिमट जाते हैं कि उनमें पानी भर जाता है और वह प्रसन्न चित्त होकर गुरु के पास पानी भर कर लाता है। इस प्रकार गुरु-शब्द अभ्यास का चमत्कार देखकर उसके आत्म विश्वास में और भी सुदृढ़ता ओ जाती है और गुरु मंत्र के जाप का महत्त्व उसकी समझ में पूर्ण रूप से आती है और वह गुरु कृपा का पात्र बनकर एक महान् संत बनता है।

हमें तो आजकल यह सब काल्पनिक प्रतीत होता है। परन्तु जिनके साथ ऐसी घटनाएँ घटती हैं वही इसकी वास्तविकता जानते हैं। मीरा भाई, संत कबीर, संत तुसली, भग्त प्रहल्लाद, ध्रुव भगत, गुरु नानक देव जी, महात्मा बुद्ध, आदि आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। यह सब तो ईश्वरी देन हैं तथा जन्म जन्मान्तरों के पुण्य-फल पर ही आधारित हैं कि इसी जन्म में अभीष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति गुरु का कृपा पात्र बन कर हो कर रहती है। अन्यथा यह सब व्यर्थ-सा लगने लगता है।

वास्तविकता तो यह है कि मानव जीवन की चार अवस्थाएँ जो हैं वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषप्ति और तुरीय अवस्थाएँ हैं। परन्तु तुर्यातीत् अवस्था में लय होना ही मानव धर्म है जो गुरु कृपा पर ही आधारित होता है। गुरु कृपा से इस से बढ़कर भी चमत्कार शिष्यों को प्रकट रूप से देखने को मिले हैं। परन्तु आम जनता

इस पर विश्वास ही नहीं करती। जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में मनुष्य स्थूल शरीर से बाहिर विचरते हुए नाना प्रकार के दृष्य देखता है जो कभी कभी बाद में जाग्रत अवस्था में सच्च भी सिद्ध होते हैं तथा स्वप्न अवस्था में भी तो सच्च ही प्रतीत होते हैं। नहीं कहां तो मनुष्य का स्थूल शरीर बिस्तर में पड़ा होता है और वह सूक्ष्म तेजस शरीर से सारे ब्रह्माण्ड़ का चक्कर काटता है गोया कि वह जागृत अवस्था में ही हो। इसी प्रकार गुरु-कृपा का पात्र बनकर आध्यात्मिकता की परिपक्कवता होने पर जीवात्मा अण्ड़, पिण्ड़ तथा ब्रह्माण्ड़-से परे विचरण करता हुआ सारे पर-ब्रह्माण्ड़ से सम्बन्ध स्थापित करता है। जो कल्पना से बाहिर की बातें हैं। इन बातों को केवल वही समझते हैं जो ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं। ऐसी अवस्था के प्राप्त होने पर ही ऋृषि,मुनि, योगी उस पर-ब्रह्मण्ड़ (cosoms) से सम्बन्ध स्थापित करके घर बैठे-बैठे ही वहाँ का सन्देश प्राप्त करते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान तक सन्देश भेज भी सकते हैं। इसे वैखरी कहो अथवा दिव्य दृष्टि कहो। जैसे कि विज्ञान ने प्रत्यक्ष रूप से प्रकटाकया है। टेलीफोन, तार, टेलिविजन आदि द्वारा अब यह प्रत्यक्ष रूप से देखने में आता है। इसी अवस्था के प्राप्त होने पर योगी सारी सृष्टि का पता लगा सकता है परन्तु उसे ऐसा खुल कर प्रकट करने से हानि पहुँचती है और उसकी शक्ति क्षीन होने की सम्भावना होती है। परन्तु मस्त कलन्धर योगी मस्त अवस्था में होने के कारण ऐसा कर सकते हैं। इसके बारे में भजन में भी आया है जिसका एक पद इस प्रकार है:-

"मस्तानृऽ तिमय छि असली।
तिमनृ'य वनान छि महाबली।।
फर्शृऽ प्यठय अर्शस यिम वुछन।।[°°]

अर्थात् :- असली योगी वही होता है और उसी को महाबली भी कहा जाता है जो धरती पर बैठे बैठे ही सारी कायनात (सृष्टि) का हाल जान सकता है और सारा वृत्तान्त स्पष्ट कर के बता सकता है।

आजकल यह सब विज्ञान ने प्रकट रूप से सिद्ध करके दिखाया है। फिर भी मानव माया के पर्दे में ढ़के रहने के कारण इस पर विश्वास ही नहीं कर बैठता है। विज्ञान ने जो कुछ भी करके दिखाया वह सब अभ्यास की ही कढ़ी है जिस से मानव जीवन सार्थक बनता है।

8. नाम स्मरण तथा मन की स्थिरताः-

यह तो सत्य है कि हठयोग द्वारा निचले तबके शीघ्र ही सिद्ध होते हैं परन्तु अहंकार वश हठयोगी उनकी ओर ही विशेष ध्यान देते हैं और आगे बढ़ने से वञ्चित रहते हैं। इसीलिए अभ्यास में हठ योग पर कम ही बल ड़ाला जाता है। हठयोग में मस्तिषक पर दबाव डालना होता है तथा मन के साथ ज़ोर जबरदस्ती भी करनी होती है। परन्तु वहाँ पर शरणता की गति होनी चाहिए नहीं तो वहाँ हठ तथा ज़ोर जबरदस्ती से काम नहीं चल सकता है। अतः पहुँचे हुए कामिल सत्गुरु से दीक्षा लेकर विधि पूर्वक अभ्यास रत्त होकर सहज पूर्वक शरणागत भाव से अटल पदवी की प्राप्ति की चेष्टा करनी होती है जिसमें मन्त्र-जाप महत्त्वपूर्ण कार्य निभाता है। विधि पूर्वक मन्त्र जाप मन की स्थिरता के लिए आवश्यक है, अर्थात् नाम-स्मरण जो श्वास उश्वास पर

आधारित होता है उस के द्वारा मन का विक्षिप्त मल दूर होता है। इसी प्रकार भ्रूमध्य अथवा हृदयस्थल में चित्त की धारणा को स्थिर करने से मन को सहज ही से वश में किया जा सकता है। इसका आधार भी नाम स्मरण ही है। नाम स्मरण द्वारा ही योग- अभ्यास में वृद्धि होती है और साधक विविध चक्र स्थानों का आनन्द प्राप्त करता है। वैसे तो चित्त-वृत्ति की स्थिरता किसी भी केन्द्र की स्थिरता पर आधारित है। फिर भी प्रायः भक्त् जन अनाहत् चक्र पर तथा योगी जन अथवा वेदान्ती आज्ञा चक्र पर ध्यान लगाते हैं। कुछ योगी नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि स्थिर करके ध्यान मग्न होते हैं। इस को नासिका-दृष्टि कहते हैं। इस के बारे में श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित है :-

"समम् कायशिरोग्रीवम्
धारयन् अचलम् स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रम्
स्वं दिशश्चान् अवलोकयन्"।।

"प्रशान्तात्मा विगतभीर्
ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मत् चित्तो
युक्तः आसीत मत्परः

अर्थात् :- काया, सिर और गले को समान एवं अचल धारण किए हुए और स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्मचारी व्रत में स्थित रहता हुआ, भय रहित तथा भली भाँति शान्त अन्तः करण वाला और

सावधान योगी मन को वश में करके मेरे में लगा हुआ चित्त वाला तथा मेरे परायण होकर अर्थात् मेरे में लीन होकर, स्थित होवे।

ऐसा करने वाला योगी परम् आनन्द प्राप्त करने में सफल होता है और वह योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। जैसा कि इन श्लोकों से भी स्पष्ट है:-

(क) "युञ्जन[1] एवं सदात्मानं
योगी नियत[2] मानसः।
शान्तिं निर्वाण परमाम्
मत्संस्थाम् अधिगच्छति।।"

लगाता है[1] स्वाधीन[2]

अर्थात् :- इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वच्छन्द मन वाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द की परकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

(ख) "युञ्जन् एवं सदात्मानं
योगी विगत[1] कल्मष[2]:
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शम्
अत्यन्तम् सुखम अश्नुते[3]।।"

रहित[1] पाप[2] अनुभव करता है[3]।

अर्थात् :- इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाता हुआ पाप रहित योगी सुख पूर्वक परब्रह्म की प्राप्ति रूपी अत्यन्त सुख तथा आनन्द का अनुभव करता है।

(ग) "यो माम् पश्यति सर्वत्र
सर्वम् च मयि पश्यति।।
तस्य अहं न प्रणश्यामि

सः च मे न प्रणश्यति।।"

अर्थात् : जो जीव सम्पूर्ण भूतों में सब के आत्म रूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है तथा सम्पूर्ण भूतों को मेंरे में देखता है उसके लिए मैं अदृष्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिए अदृष्य नहीं होता है। वह मेरे में एकीभाव से स्थित होता है।

अतः श्रेष्ठः योगी के लक्ष्ण तथा मनोवृत्ति को देखते हुए और योग साधना के केन्द्रों की स्थिति को जानते हुए हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि त्रिकुटि अर्थात् आज्ञा चक्र, जो मन की जागृत स्थिति का स्थान माना जाता है, पर ध्यान धारणा से शीघ्र ही रोशनी प्रकट रूप से अनुभव करते हैं। और सभी निचले चक्र स्वतः स्यद्ध ही वश में कर पाते हैं। वैसे तो किसी भी चक्र को ध्यान केन्द्र बना कर तथा उस केन्द्र के मन्त्र जाप से एक स्पन्धन (रोमाञ्च) सा प्रकट होता है जो एक सूक्ष्म तार की भाँति सभी केन्द्रों को मिलाती हुई सुषुम्णा (ब्रह्मनाड़ी) में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न शील रहती है। जब ऐसा होता है तो तीव्र वैराम्च-सा आने लगता है, निभर्यता आ जाती है और साथ ही साथ अन्तज्र्योतियाँ प्रकट होने लगती हैं। इसी को शास्त्रमें 'उन्मनी' अवस्था कहते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न चक्रों पर ध्यान धारणा के स्थिर होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे मूलाधार-चक्र में 'पृथ्वी तत्त्व' पर विजय प्राप्त होती है, मणिपुर-चक्र पर 'अग्नि तत्त्व' पर, अनाहूत-चक्र पर 'जल तत्त्व' पर विजय प्राप्त होती है। इस प्रकार पाँच केन्द्रों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ उनके

मन्त्रों के उच्चारण से पाँच तत्त्वों पर जैसे 'पृथ्वी' 'अग्नि' 'जल', 'वायु' तथा 'आकाश' (व्योम) तत्त्वों पर विजय प्राप्त होती हैं। इसी से अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिन से साधक का अहंकारी बनना अवश्यम्भावी है। इस से बचने का केवल एक मात्र उपाय सत्गुरु शरण तथा सत्गुरु कृपा ही है। कर्म पुराण में योग-स्थितियों के बारे में इस प्रकार वर्णन है :- "यदि मन को केवल 12 सैकेन्ड़ के लिए किसी भी केन्द्र पर एकाग्र कर सकें तो इसे 'धारणा' (concentration) कहते हैं। ऐसे ही 12 धारणाएँ अर्थात् 144 सैकेन्ड़ अथवा अढ़ाई मिन्ट की एकाग्रता 'ध्यान' (meditation) कहलाती है। ऐसी ही 12 ध्यान धारनाएँ अर्थात् 25 मिन्ट व 28 सैकेण्ड़ की एकाग्रता 'समाधी' अवस्था कहलाती है। यह-समाधी ऐसी योगसाधना होती है जिसमें प्राणी सांसारिक क्लेशों से मुक्ति पाकर अनेक शक्तियां प्राप्त करता है। इस 'समाधी' अवस्था के बारे में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहता है :-

"अभ्यास योग युक्तेन
चेतसा नान्यगामिना।
परमम् पुरुषं दिव्यं याति
पार्थ अनुचिन्तयन्।।"

अर्थात् :- हे अर्जुन! अभ्यास रूप योग से युक्त समाधिस्थ पुरुष अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ, दिव्य स्वरूप परम् पुरुष अर्थात् परम-तत्त्व परमात्मा को प्रकटाता है अर्थात् प्राप्त होता है।

एक और श्लोक में इस समाधिस्थ अवस्था का

महात्तम्य इस प्रकार प्रकटाया है :-

"प्रयाणकाले[1] मनसा अचलेन[2]
भक्त्यायुक्तः योग बलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणम् आवेश्य[3] सम्यक्
सः तम् परम् पुरुषम् उपैति[4] दिव्यम्।।"

1 अन्त काल में, 2 निश्चल रूप से,
3 स्थापित करके, 4 प्राप्त होता है।

अर्थात् : वह भक्ति युक्त पुरुष अन्त काल में भी योग बल से भृकुटि के मध्य में प्राण अच्छी प्रकार स्थापित करके निश्चल मन सें समाधिस्थ अवस्था में उस दिव्य स्वरूप परम् पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

अतः राज्य योगी प्रायः त्रिकुटि (आज्ञा चक्र) को ही ध्यान केन्द्र बनाते हैं।

9. प्राणायाम तथा एकाग्रताः-

अब इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि प्राणायाम और एकाग्रता का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी लिए प्रत्येक पूजा में अर्थात् प्रत्येक मार्ग में प्राणायाम पर विशेष बल ड़ाला गया है। चाहे हठयोग हो, राज्य-योग हो, ज्ञान योग हो अथवा किसी भी प्रकार की पूजा हो सब में प्राणायाम की विधि का विधान येन केन प्रकारेण विद्यमान होता है, यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार से अमल में लाया जाता है। भक्ति योग में विरह-अग्नि तथा प्रेम की पीड़ प्राणायाम का स्थान लेता है। प्राणायाम से ही एकाग्रता स्थापित हो जाती है। प्राणायाम अर्थात् श्वास उश्वास पर काबू पाने से रजो गुण व तमो गुण पर नियन्त्रन रखा जा सकता है। प्राणायाम से ही नाड़ियाँ पवित्र होती हैं जिस से मन

का हल चल दूर होने लगता है। ज्यों ही मन की अस्थिरता मिट जाती है त्यों ही एकाग्रता आने लगती है। बहुत सारी बाधाएँ शनैः शनैः दूर हो जाती हैं। संकल्प-विकल्प दूर रहते हैं और ब्रह्म साक्षात्कार होने लगता है। अदृष्य स्वरूप सत्गुरु प्रत्यक्ष रूप से द्रष्टि-गोचर हाने लगता है। इस अवस्था को पाने के लिए इच्छाओं का दमन, संकल्प-विकल्प वैराग्य, एकान्त वास (कम-से-कम एक आध घंटे के लिए पृथ्क कमरे अथवा कमरे के कोने में अपने आप को ओढ़नी से ढ़ाँप कर रहना), आनन्द मग्न रहना, शान्त-स्वभाव, अगाध प्रेम भाव, दया भाव, विषय-वासनाओं का त्याग, द्वेष-घृणा-वैर भाव का त्याग, मित भाषी, शुद्ध आहार, सब से कल्याण की भावना, निःस्वार्थ भाव आदि रखना ही आवश्यक होता है। सत्गुरु की कृपा दृष्टि से अन्तर्मुखी बनकर यह सब कुछ स्वतः स्यद्ध सहज से ही प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति का पाना मन की एकाग्रता पर ही निर्भर होता है। इसी एकाग्रता से मन को सुष्पति अवस्था में लाकर मन का करार प्राप्त होता है। मन के करार पर बहुत कुछ निर्भर होता हे। मन का करार हाथ लगना बहुत कठिन होता है। अतः यदि मन न लगे तो अपने अभ्यास के स्थान को छोड़ कर कमरे से बाहिर आकर खुली वायु में, दरिया के तट पर अथवा किसी बगीचे के शाँत वातावरण में बैठ कर सत्गुरु के ध्यान में मग्न होकर आज्ञा चक्र की ओर दृष्टि केन्द्रित करके ईश्वरी सत्ता का आभास होने लगेगा जो ज्योतिर्मयी-वाण्गमयी होती है। ऐसा होते ही अपने स्थान पर बैठ कर ही ध्यान मग्न होकर रहना होता है।

इस प्रकार क्रमिक तथा नित्य नियम अभ्यास द्वारा तुरीय अवस्था प्राप्त होती है। इसी को आत्म बोध अथवा अपने आप की पहचान कहते हैं। इसी योग की स्थिति के बारे में श्री शिव महिम्नः स्तोत्र के इस श्लोक में श्री पुष्पदन्त जी इस प्रकार वर्णन करते हैं :-

"मनः प्रत्य[5]कचित्ते सविधम्[1] अवधाया[2]त्तमरुतः[3]
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत् सङ्गित दृशः।
यदा लोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्वं किमपि यमिनस्तत् किल भवान्।।"

निकट[1] सिथर करके[2] प्राणों का संयम[3] स्नान करके[4] अन्तर आत्मा में अर्थात् :- यम-नियम युक्त मनुष्य प्राणायाम द्वारा प्राण-अपान की गति को वश में करके मन को इन्द्रियों के विषयों से हटा कर अन्तर्मुख भाव में ध्यान, धारणा, समाधी पूर्वक सावधान रखकर, रोमाञ्चित होते हुए देह से युक्त हर्ष तथा आनन्द के आँसुओं से भरे नेत्रों वाले अमृत रूपी जल से भरे हुए सरोवर में स्नान करके आन्तरिक परमानन्द प्राप्त करते हैं। वही तत्त्व जिस को वह धारण करते हैं वह निश्चय ही आप ही हैं।

यही तुरीय अवस्था का आनन्द होता है जो प्राणायाम द्वारा एकाग्रता से प्राप्त होता है। यही 'संवित शक्ति' अथवा 'ब्रह्मात्म साक्षात्कार' का आनन्द होता है। इस स्थिति को भी पाना अपने आप में महत्त्वपूर्ण और अमोलक है। परन्तु इस स्थिति को पाकर इसी पर टिक कर रहना नहीं होता है। यहाँ से ही परमार्थ का द्वार खुलता है। अतः इस की ओर अधिक ध्यान न देकर तुरिया तीत की वृत्ति प्राप्त करनी होती है।

इस वृत्ति को स्वच्छन्द वृत्ति कहते हैं परन्तु फिर भी क्रमिक अभ्यास कभी नहीं छोड़ना होता है। अन्तर्मुखी वृत्ति प्राप्त करके प्रति क्षण-प्रति पल उसी परम तत्त्व का ध्यान रखना होता है। समस्त गृहस्थ का व्यवहार करते करते अन्तर स्वरूप से च्युत नहीं होना होता है। सदा ही इसी तथ्य को स्मरण में लाना होता है कि केवल ब्रह्म स्वरूप ही सत्य है शेष सारा असार है। अतः संसार का व्यवहार निरासक्त भाव से करना होता है। जीवात्मा का एक मात्र लक्ष्य परमात्मा में विलीन होने का होना चाहिए। इसी का वर्णन हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी के इस भजन से स्पष्ट है :-

"खाऽ'रिथ सूरत ब्रह्माण्डसिय
दा'ऽरिथ कनिय रोज़।
गूव्यन्द्ऽ सत्गो'र्ऽ शब्दस
सी'त्यी रात्र द्यनिय रोज़।।°°

वो'थन बिहन असन गिन्दन
शो'न्गिथ हुशियारिय।
युथ नो म'शी अ'कसिय क्षणस
क'र स्मरणिय रोज़।।°°

अहंकारस कर लुर्ऽ पारिय,
सार वस्तु ज़ान।
पान च्योन शोद्ध त्ऽ कोमल
नारायणिय रोज़।।°°

उन्मत भूत्तम सोरुय ज़गत्,

गूव्यन्दो लो'ऽभ रोज़
साघ संथिय अवय कि'यन्ये
दिथ चू्ऽति छ़्यनिय रोज़।।°°

इस स्थिति की प्राप्ति के लिए निर् अहंकार चित्त वृत्ति अनिवार्य होती है। जब तक मन में अभिमान की रेखा लेश मात्र भी रहती है तब तक उस शुद्ध सत् चित् आनन्द घन निराकार ब्रह्म में स्थिति पाना दुष्कर होता है। जैसा कि श्रीमद्भवद्गीता के इस श्लोक से स्पष्ट है :-

क्लेशो अधिकतरस्तेषाम्
अव्य[1]क्ता सक्त चेतसाम्।
अ[2]व्यक्ता हि गतिर्दुः खं
देह[3]वद्भिः अवाप्यते।।"

जो स्पष्ट न हो[1] अगोचर [2]देह अभिमानियों द्वारा[3]

अर्थात् : सत्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में उन आसक्त (अहंकारी) चित्त वाले मनुष्यों की साधना में बहुत क्लेष अर्थात् परिश्रम विशेष होता है क्योंकि देह अभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति की प्राप्ति बहुत ही कष्ट प्रद होती है अर्थात् दुर्लभ ही होती है।

अतः संसार का व्यवहार अभिमान रहित करना होता है। जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन का पाना अनिवार्य होता है ठीक उसी प्रकार आत्म आनन्द की प्राप्ति के लिए क्रमिक अभ्यास का पालन करना अनिवार्य होता है। साथ ही साथ आठों याम अर्थात् सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते उसी परम् तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न शील रहना होता है और इसी में लय होने

की चेष्टा रखनी होती है। यहाँ पर भी यही तथ्य खरा उतरता है:

"करत करत अभ्यास के,
जड़मति होत सुजान्।
रस्सरी आवत जात ते,
सिल पर करत निस्सान।"

इस की नीवं प्राणायाम
अर्थात् प्राण-अपान का सम बनाना है।

10. **सच्चखण्ड़ स्वरूप की अभियक्तिः-**

अब इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि इस शरीर के चार खण्ड़-अण्ड़, पिण्ड़, ब्रह्माण्ड तथा पर-ब्रह्माण्ड़ हैं। पर-ब्रह्माण्ड ही सच्च-खण्ड़ होता है। आज्ञा-चक्र तक पिण्ड़ खण्ड़ होता है। यहाँ मन का साथ होने के कारण भ्रमित दशा बनती है। अर्थात् कल्पना युक्त द्रष्य बनते हैं जो मन का ही विषय होता है। जब इस आज्ञा चक्र से ऊपर चढ़ते हैं तो तुरीय अवस्था में प्रकटे हुए प्रकाश का मिलाप 'नाम' के साथ होने लगता है। स्थूल शरीर से सम्बन्ध टूटने लगता है और सूक्ष्म शरीर द्वारा सुष्मणा नाडी जिसे ब्रह्म नाड़ी भी कहते हैं से ब्रह्माण्ड़ खण्ड़ की यात्रा आरम्भ होती हैं। जब तक जीवात्मा नव द्वारों को खाली करके ऊपर नहीं आता तब तक वास्तविक 'नाम', जिसको 'अनाहद नाद' 'उद्धगीत', 'आकाश वाणी', 'शब्द' आदि कहते हैं, के साथ मिलन नहीं होता है। इन नव द्वारों तक यह सभी ध्वनियाँ तथा दृष्य भ्राँति अर्थात् भ्रमिक अर्थात् काल्पनिक होते हैं। यह सब कल्पना का ही विस्तार होता है। जो वास्तविक 'नाम' है जिसको सीरि-अज्ञार

भी कहते हैं उसके बारे में संत तुलसी दास जी महाराज का कहना हैं:-

"गगन द्वार दीसै इक तारा।
अनहद नाद सुनै झनकारा।।"

अर्थात् :- चित्त आकाश में तारा मण्ड़ल दीख पड़ता है और अनहद नाद की झण्कार सुनाई देती है।

गुरु नानाक साहब जी ने भी इसी तारा मण्ड़ल का वर्णन इस प्रकार किया है:-

"तारा चड़िया लंमाकिउ
नद[1]रि निहालि[2]या राम।
सेवक पर करमां सतिगुरि।
सबदि दिखालिया राम।।"

निर्भय[1] जिस के सभी कार्य पूर्ण हो चुके हो[2]

अर्थात् :- तारा मण्ड़ल प्रकट होने से ही मनुष्य निर्भय तथा निहाल हो जाता है। यह तो सेवक पर सत्गुरु की कृपा द्वष्टि का ही प्रभाव है कि शब्द के द्वारा राम का मिलन हो गया।

तारा मण्ड़ल के बाद सूर्य और चन्द्र देखने में आते हैं जिनको लाँघ कर आत्मा को आगे सहस्र दल में पहुँचना होता है जहाँ हज़ार बत्ती की जोत है। इसी जोत को देख कर वेदान्ती कह उठते हैं :-

"अहम् ब्रह्मोस्मि!"

यही सहस्र दल सूक्ष्म देश का केन्द्र है। इसी को सच्च खण्ड़ कहा जाता है। इसी को गुरु मत्त में दयाल-देश कहते हैं। यह अविनाशी देश है। यह न प्रलय में नष्ट होता है न महाप्रलय में ही नष्ट होता है। यहाँ पहुँचा हुआ जीव आवागमन के चक्र से छुटकारा

पाता है। वह न कभी जन्मता है, न मरता है, न आता है, न जाता है। इसी स्थिति को अबीजात्मक अवस्था कहते हैं जो सच्चखण्ड़ की वास्तविकता है। यहाँ आने पर ही अपनी वास्तविक पहचान आती है। यहाँ जड़ और चेत्तन की गांठ खुल जाती है। इस दशा में निरुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। जिस सत्गुरु ने हमें 'नाम' की दीक्षा दी हुई होती है यहाँ उनके जयोतिर्मय स्वरूप के साथ आत्मा का एकीकरण हो जाता है। यहाँ दो का झंझट ही मिट जाता है। संत तुसली दास जी महाराज का इस ज्योतिर्मयी अवस्था की महानता के बारे में यह दोहा इस प्रकार हैः–

"श्री गुरु पद–नख
मणि–गण ज्योति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि
हिय में होती।।"

अर्थात्ः– यहाँ गुरु के चरण का नख भी करोड़ों मणियों से भी अधिक ज्योतिर्मय है। एक बार अन्तर आत्मा में उस गुरु के नूरी स्वरूप के प्रकट होने पर सदा के लिए साथ बना रहता है। तब तक आत्मा परमात्मा में लय नहीं होता है जब तक यह साथ नहीं छूटता। फिर न गुरु रहता है न शिष्य ही रहता है जिसे कैवल्य पद की प्राप्ति का नाम दिया जाता है।

अब इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि जब तक सत्गुरु का साथ न हो तब तक जीव एक कदम भी अन्दर नहीं जा सकता है। यह तो केवल पूर्ण सत्गुरु ही हैं जो शिष्य को कर्म–बन्धन से मुक्त करके, मृग तृष्णा, भ्रम तथा संदेह से अवगत कराके सच्चखण्ड़

तक पहुँचना सम्भव बनाता है और वह आवागमन से छूट जाता है। उसके पूर्ण होने पर मनुष्य जन्म का लक्ष्य पूर्ण होकर रहता है। इसी भाव को हमारे सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है :-

1. "सुय वुछुय म्य यस नूऽ
कान्ह शक्लिय छय।
क्वरुम दर्शुन हा'ऽरतस
अक्लिय छय।।"

2. सुय वुछुय म्य यस नूऽ
कुल गुथुर छय क्राम।
सुय वुछुय म्य यस वनान
सन्त छिय अन्नाम।।"

3. सुय वुछुय म्य, सपि'द मन्जूरे नज़र।
ब्यन्दसिय स्यन्ध ज़रसिय गव भास्कर।।"

4. सुय वुछुय म्य यमिसुन्द
सार्यनिय तम्माह।
ध्यान धारान विष्ण शिव
दीवी ब्रह्मा।।"

5. सुय वुछुय म्य यस वनानिय वीद शिव।
सत् च़्यत् आनन्द न्यति मो'क्त सोनुय सु ज़ुव।।"
सुय वुछुय म्य फ्वल
हृदय गूव्यन्दसिय।
तार द्युतथस आर आय
स्वच़्छन्दसिय।।

ॐ R.S.

चतुर्थ खण्ड
ससीम को असीम में लय करने की भूमिकाएँ
तथा
योग साधना की आवश्यकता

ॐ R.S.

1. योग की पाँच अवस्थाएँ

योग साधना की पाँच अवस्थाएँ जो 'ससीम' को 'असीम' में विलीन करने में बनती हैं अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा में लय होने के मार्ग में जो भूमिकाएँ क्रमशः अनुभव होती हैं वह इस प्रकार हैं :-

i. क्षिप्त अवस्था;
ii. विक्षिप्त अवस्था;
iii. मूढ़ा अवस्था;
iv. एकाग्र अवस्था;
v. निरुद्ध अवस्था।

i. क्षिप्त अवस्था :-

यह ऐसी अवस्था होती जब मन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के पीछे दौड़ने लगता है। इस मानसिक क्षिप्तता की दशा में मन बहुत विह्वल होता है और चञ्चल घोड़े की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर वायु से भी तेज़ गति से दौड़ने लगता है। इस अवस्था में मन में द्वन्द्वा द्वन्द्व व्यवस्था बनकर द्दुविधा उत्पन्न हाती है। इस दशा का वर्णन हमारे सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज द्वारा रचित इन पंक्तियों से स्पष्ट है :-

"च़्यत् घुरिसिय क्Ꞌऽत्याह छि ज़ोर।
वावस ति ब्रोंठ द्राव तुजिन दोर।।

पोशन ना छुस छुस कम्ज़ोर
रटिथ टꞋऽकन टꞋऽकान दिम।।"

प्रस्तुत पंक्तियाँ इस अवस्था से उभारने के लिए हैं:-

"करान मन छु कम कम छ़्ल अति वीर'ऽव ति होर बल।

ह्यथ गो'ऽरन पनू्ऽनुय बल, अथ सी'ऽत्य क'र चू्ऽ दंगल।

युथना तुलि वो'ऽठ रदुन तल।।

इस दशा से मन को उभारने का उपाय केवल पूर्ण तथा पहुँचे हुए कामिल सत्गुरु की कृपा दृष्टि ही है। सत्गुरु-मंत्र का जाप, कीर्तन तथा सत्संग इस अवस्था से मन को निकालने में बहुत कुछ चमत्कार कर बैठता है जिस से मन की दशा सुधरने की ओर बढ़ने लगती है।

ii. विक्षिप्त अवस्थाः-

इस अवस्था में मन की ऐसी दशा बनती है कि मन कभी स्थिर होने लगता है तो उसी क्षण शीघ्र ही अस्थिर होकर इधर-उधर हलचल मचाता है। मन संकल्पों तथा विकल्पों के बोझ तले दब जाता है और एकाग्रता में बाधा ड़ालता है। जो विचार कभी नहीं उठते हैं वह अभ्यास के समय में उठते हैं जिस से निश्चित रूप से एकाग्रता बंग हो जाती है। इसी लिए हमारे सत्गुरु महाराज अपने सत्गुरु महाराज महर्षि दाता दयाल से विनम्र विनति करते हैं तथा अपने भक्तों को भी इस दशा से उभरने के लिए प्रेरित करते हैं जो इस प्रकार है :-

"बोज़ुम दायलो सत्गो'रो,

प्रसन्न बनिथ यी दान दिम।

शो'ब्द्ध बो'ब्द्ध तू्ऽदृढ़ विश्वास पूर,

भक्ति तृऽ सम्यक् ज्ञान[1] दिम।।°°

अनुग्रह पनोनुय करतृऽ पूर,

वासनायि म्याने करतृऽ सूर।

हृदयस विक्षप्त मल करतृऽ दूर,

दूरिय करिथ अज्ञान दिम।।°°

दूसरे एक और भजन की इन पक्तियों में भी इसी दशा का वर्णन इस प्रकार है :-

"सू सू करान सू दिथ म्य ज़ोर गोम

तोर गोम यल'य वज़न छु सू।।°°

सू सू छ़ारान पानस खोर गोम।

नाभि कमला'ऽ वज़न छु सू।।

गो'डूऽ गो'डूऽ मन म्य ओर गोम योर गोम।।°°

इस अवस्था से उभरने का एक मात्र उपाय गुरु मंत्र पर दृढ़ विश्वास रख कर नित्य नियम-विधि पूर्वक मंत्र जाप करना होता है जो गागर में सागर का काम करता है। इसी से मन का हल चल दूर होने लगता है और गुरु भक्ति तथा सत्गुरु का सच्चा प्रेम जमने लगता है।

iii. मूढ़ा अवस्थाः-

इस अवस्था में ऐसी दशा होती है कि मनुष्य में देवानगी जैसी छा जाती है। मन कुन्द तथा विस्मृति की दशा अनुभव करने लगता है। मस्ती आ जाती है और सत्गुरु का अगांध प्रेम उमढ़ आता है। विरह रूपी अग्नि में मन जलने लगता है। मदहोशी का-सा आलम छा जाता है। इस अवस्था में सत्गुरु से मिलने की तड़प बड़ती है। पर'वाने की सी दशा होती है जो श्माह पर जल मरने के लिए तत्पर हो जाता है और हिरण की

भाँति 'नाद' के पीछे मर मिटने के लिए दौड़ता है।

'परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इन भजनों में इसी दशा का स्पष्टीकरण है:

(क) "सत्गो'र ज़्वलमा'य सुलि वुज़ना'ऽविथ।
मस गोम च्या'ऽविथख्वत खुमार।।°°

ह्राल यी वन'ऽ हाऽ'स सीन्ऽ मुच़रा'ऽविथ,
लल्वुन ज़ल्ऽ वुन लोलुन नार।
थोवनम वो'ञ्य कस ह्यक्ऽ बो हा'ऽविथ।।°°

वार्ऽ गूव्यन्द्ऽ ह्यक्त्ऽ पान प्रज़्ऽ ना'ऽविथ,
प्रज़्ऽनाव तोर नो ब्वज़ रफ्तार।
त्र'श्ऽ वय ताप'ऽई रूद्य शेहला'ऽ विथ।।°°

(ग) गूरऽ गूर्ऽ करयो ही अघूरो ही अघूरो।
चूऽ छुखो स्वप्रकाश ब्ऽ हा पोम्पूरो ब्ऽ हा पोम्पूरो।।°°
(अघूरो = शांति काभण्ड़ार)

आनन्द मस च्यथ ख्वत म्य स'रूरो ख्वत म्यस'रूरो,
राज्ऽ यूग्ऽ राज़ बोज़ साज़्ऽ सन्तूरो
साज़्ऽ सन्तूरो।
गूव्यन्द कलन्धरऽ आ'ऽनि मन्सूरो आ'ऽनि मन्सूरो।।°°

साधक को इसी अवस्था का पूरा पूरा लाभ उठाना होता है। आत्मा को पहचानने की ओर अग्रसर होने के लिए सत्गुरु की शरण लेनी होती है जिसके लिए सत्गुरु का अगाध प्रेम अनिवार्य होता है और ऐसा इसी दशा के फल स्वरूप सम्भव होता है। इसी दशा के कारण राजा भर्तहरी को "जड़ भरत" का नाम पड़ गया। इसी

अवस्था में भक्ति भावना तीव्र[3]रूप धारण करती है और सत्गुरु की कृपा दृष्टि का पात्र बनने की सम्भावनाएँ बढ़ने लगती हैं। सत्गुरु का प्रेम ज़ोर पकड़ता है और मस्ती तथा देवानगी छा जाती है। अन्ध-विश्वास जैसा ज़ोर पकड़ता है। यही अवस्था सत्गुरु महाराज के इस भजन से प्रकट होता है:-

"सतगो'रऽ पादन तल चूऽ नम।
कन थ'व वज़न छुय ज़ीरऽ बम।।°°

मस क'म्य द्युतुय मस्तानऽ गोख।
वुड़ने चूऽ पथ असमानऽ गोख।।
वुछान गोख क्या दम ब'ऽ दम।।°°

सार'ऽय शब्दक्ये द्रसय।
सत्यलूक ख'त्य रसा'ऽय रसय।।
च्योवहस मसिय प्रोव परमऽ शम।।°°

नाद्स तऽ ब्यन्दस ग'व अपोर,
गूव्यन्दऽ यस तोरुक छु ज़ोर।
योरनस दयालन छुम कस्म।।°°

iv. एकाग्र अवस्था :-

यह मन की वह अवस्था है जिस में केवल एक ही भाव मन में रहता है और वह है ईश्वरीय भाव। प्रति दिन के विधि पूर्वक अभ्यास से मन एकाग्र होने लगता है और एक केन्द्र बिन्दु की स्पष्टता ज़ोर पकड़ने लगती है। सूरत तेल धारावत् शब्द की ओर अग्रसर होने लगती है जिस से समाधी की अवस्था बनने लगती है। इस अवस्था में मन की वृत्ति निर्मल तथा चित्त फुर्णा की

उफान भी शान्त बनती है। इस अवस्था को परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज ने इस भजन में दर्शाया है :–

"बोजुम दयालो सत्गो'ऽरो,
प्रसन्न बनिथ यी दान दिम।
शो'ख्द बो'ख्द त्ऽ दृढ़ विश्वास पूर।
भक्ती त्ऽ सम्यक् ज्ञान दिम।।°°

सूरतस त्ऽ शब्दस म्युल म्य कर,
सूरत बनावुन म्योन थ्यर।
पन्ऽनिस ध्यानसिय अन्दर,
लयी करिथ मन प्राण दिम।।°°

दूसरे एक और भजन में इस अवस्था को इस प्रकार प्रकटा है :–

"गो'र्ऽ शब्दय सी'त्य हुशियार,
ग'व यि म्योनुय आत्मा।
लय विक्ष्प्त नय रूज़ क्वशा,
रूद् र'सा साद नय।।°°

संकल्प विकल्प नय रूद,
मन त्ऽ प्राणिय लय सपुद।
मन बे मन ग'व च़्यत् अच़्यति'य,
बयन्द नय रूद नाद नय।।°°

इस दशा का पाना भी महत्त्व पूर्ण है परन्तु इस अवस्था को प्राप्त होकर भी साधक को वास्तविकता प्राप्त नहीं होती है। 'संवित शक्ति' का आनन्द तो प्राप्त

होता है परन्तु कर्मों का चक्कर तथा आवागमन का फेर इस अवस्था के प्राप्त होने से भी नहीं छूटता है। इसके लिए सत्गुरु मेहर की अत्यन्त ही आवश्यकता होती है, जो केवल आत्म समर्पण से ही प्राप्त हो सकती है। इस अवस्था में मन निर्मल तथा शुद्ध व शान्त बनने लगता है। इस अवस्था में आत्म बोध होता है जो आगे के मंज़िल का मार्ग दर्शक बनकर रहता है। इस अवस्था का आनन्द भी कोई कोई विरला साधक सत्गुरु की अन्नय भक्ति से ही प्राप्त करता है। जैसा कि हमारे सत्गुरु महाराज के इस भजन से स्पष्ट है:-

"वो'थू न्यन्दरे फ्वलयो प्रभात्,
गाश्ऽ तारुक ख्वतये।।°°

बोलान क्वस्तूर सूर रात्,
गाश्ऽ तारुक ख्वतये।।°°

त्रिकूटी यार्ऽ बलय च्रूऽ वस,
मानसर्ऽ श्रान क'र च्रूऽ खस।
सत् लूक बस वुछ पनुन नाथ।।°°

ग'छ़ शरण च़रणामृत च्यथ,
गो'रनिय परणिय प्यथ।
न'त्ऽ नय छय म्वकलन्ऽ बाथ।।°°

सत्गो'ऽ रनिय आर च्योन आय,
गूव्यन्द्ऽ च़्य तमन्ना द्राय।
च़्यति बन्योय शिव शक्ति पाथ्।।°°

v. **निरुद्ध अवस्था :-**

योग की पाँचवीं अर्थात् चरम् अवस्था 'निरुद्ध' अवस्था है। 'निरुद्ध' का शाब्दिक अर्थ है 'रुका हुआ' अथवा 'प्रतिबद्ध'। अतः यह अवस्था मन को वश में की हुई अवस्था है। इस में मनोवृत्ति पूर्ण रूप से रुकी हुई होती है अर्थात् निर्विकल्प वृत्ति होती है। इस में अद्वैत भाव प्राप्त हो जाता है, जिस में हर ओर से शिव ही शिव दिखाई देने लगता है। ब्रह्म भाव आ जाता है और अहम् भाव छूट जाता है। नर रूपी सत्गुरु नारायण रूपी सत्गुरु बनकर साधक के अन्तर में एकीकरण का भाव स्थापित कर बैठता है और दो का भाव मिट जाता है। हर ओर से अपना आप ही प्रकट हो जाता है। यह अवस्था योग साधना की पराकाष्ठा अर्थात् कूटस्थ अवस्था है जो कोई महान् साधक ही प्राप्त कर सकता है। इसी अवस्था के लिए सभी देवी देवता कारण आदि भी तरसते रहते हैं, जिसकी मनुष्य जन्म में ही प्राप्त करने की सम्भावना होती है। इस अवस्था का स्वरूप परम् दयाल पूज्य श्री स्वामी गोविन्द कोल महाराज के इस भजन से दर्शाया जा सकता है :-

"मोल मा'ऽज्य सोरुय च़ऽ म्योनिय।
शुर्य्य भाष्यण दाद दिम।।
नाद लायय लोल्ऽ सानिय।
ओर्ऽ फीरिथ वाद दिम।।°°

पान ह्यथ कुल च़िय ब्ऽ वुछहथ।
त्यी म्य च़िय वुछ्ऽ नावतम।।
महज़ यूतिय ब्ऽति मंगय।

सहज़ूऽ समाध दिम।।ºº

बू़ऽति वुछहथ च़िय च़्वपा'ऽरी।
चूऽ ति त्यी वुछ़ूऽनावतम।।
युथ नूऽ बो'ऽद्ध म्या'ऽनी ड़ली ज़ांह।।
प्रथ सातय याद दिम।।ºº

इसी अवस्था का विवरण इन्होंने 'भक्ति कथा' के पद नं० 175, 176, 177, 178, 179, 180, 181, 194, में इस प्रकार प्रकट किया है :-

जब शिव जी महाराज राजा भर्तहरी के सन्मुख प्रकट होकर उनसे आत्म ज्ञान का परिचय प्रकटाने के लिए कहते हैं अर्थात् आत्म निरुद्ध प्रकटाने के लिए कहते हैं उनका कहना इस प्रकार का है :-

175. यि बूज़िथ भरतनिय तमि
विज़ि नूऽ केन्ह वोन्'न।
तमी विज़ि भरत भाविय तस
निशे छ़्यो'ऽन।।

176. गछ़िथ केन्ह काल वनूऽन्ये
ल्वग छु आश्च़र।
छु पानय शिव प्रूऽछ़ान
पानस कथय कर।।

177. म्य वो'ऽनमस ही भर'थो
च़्येय निशे आस।
चूऽ कर आत्म निरुद्धिय
शख म्य च़िय कास।।

178. म्य निशि गच्छ़ दूर वो'ऽन
भरथन म्य फीरिथ।
अवाचे़ पद सु ज़्येवि कि'ऽनि
ह्यक्ऽ न्ऽ नीरिथ।।

179. दो'ऽयिम कुस छुय म्य
भ्यो'ऽन्न युस हावनय बुय।
ब्ऽ यमि रूपय छुसय चे़ीतन गणिय।।

180. वनन यी ग'व भरूथ ब्ययि
मन्ज़ समा'ऽज़िय।
सुगो'ऽय मन्ज़ त्रा'ऽवनय।
सारय्चय उपा'ऽज़िय।।

181. विद्ध मो'ऽक्ती त्ऽ प्रा'ऽव्'न
परम्ऽ पदवी।
वनी तमिसि'ऽन्ज़ कथिय पानय
म्य वुछथिय।।°°

194. महा गम्भीर च़्यत् निर्मल छु साधन।
त'वय वो'ऽनमय लगय बो सन्त पादन।।

इस प्रकार इसी 'भक्ति कथा' के पद नं० 30, 31, 32, 33, 36, 37, 38, 39, 44 आदि में परम देव शिव जी महाराज माता देवी पार्वती जी को निरुद्ध अवस्था प्राप्त किए हुए सन्तों के लक्षण बताते हैं। जो इस प्रकार हैंः-

30. लगन साधन हि'न्दी खो'र यतिथिय बोज़।
तिमय छिय ब'ऽड़य तिर्थ, शख त्राव खो'ऽश रोज़।।

31. वो'ऽथन ब्यहन तिमन छुय म्योन ध्यानिय।
वुछानिय म्येय ज़्वपा'ऽरी पान्ऽ सानिय।।

32. वुछानिय छिय ज़्वप'ऽरी गौरिये म्येय।
गछ़न योऽ'त यो'ऽत त्युहुन्द प्रक्ऽरम छु सुय
म्येय।

33. तिमन छय ना समा'ऽधी रोज़ि रोशन।
त'वय दो'ऽ पमय ल'गय बो सन्त च़रणन।।

36. निरुद्धि'य करन्ऽ रो'ऽस छुख ज़्यत् निरुद्धुय।
तिमन छुय दूर गोमुत काम क्रूद्धिय।।

37. यिमय सोरिय छि क'ऽर यिमनि'ऽय नमस्कार।
यिमय दिवऽवि'ऽ न्य छि यथ सम्सारसिय तार।।

38. छि यिम पद्म वथिय यथ भवसरस मंज़।
क'रिथ व्यवहार निर्मल छिय घरस मन्ज़।।

39. यिहि'ऽन्दे दर्शनय पापन बनन नाश।
उद्धय गछ़निय म'न्ये मन्ज़ ज्ञान प्रकाश।।

44. बड़्यन पो'ऽन्यन हुन्दुय फल साघ दर्शुन।
दयो गूव्यन्दसि'ऽय गो'ऽछ़ यी दो'हय द्युन।।

इस प्रकार 'निरुद्ध' अवस्था योग की पाँच प्रकार की मनोवृत्तियों में से एक है जो परम् श्रेष्ठ तथा सत्गुरु कृपा पर आधारित है। यदि जीव संसार रूपी सागर से पार पाना चाहता है तो उसे इसी 'निरुद्ध' अवस्था में पहुँचने का प्रयत्न करना है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही मानव का कल्याण बनता है। उसका जनम सफल

होता है और वह चौरासी लाख योनियों के चक्कर से छुटकारा पाता है। जब जीव माँ के गर्भ में होता है, जिसे गर्भ योनी अथवा कुम्भीपाक नरक भी कहते हैं, उस समय वह इस से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि "हे देव! देवादि देव! महादेव! जय देव! हे मालिक! हे स्वामी! मुझे इस कुम्भी पाक नरक से छुटकारा दीजिए, मैं सदा ही आपका ही गुण गान, आपका ही ध्यान तथा आपके ही स्मरण में लीन रहा करुँगा ताकि मैं इस आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाओं और आपके स्वरूप में ही विलीन हो जाओं।" परन्तु वहाँ से छूटते ही वह सब कुछ भूल कर इस संसार के मोह जाल में फंस जाता है। सांसारिक विषयों को स्थाई समझ कर वह इनके पीछे ही लग जाता है और की हुई प्रतिज्ञा का उसे तनिक भी ध्यान नहीं रहता है। विषय वासनाओं के भ्रम में फंस कर अमूल्य जन्म को कोढ़ी का भी मूल्य नहीं रखता है। जैसा कि संत कबीर दास जी के दोहे की इस पंक्ति में स्पष्ट रूप से प्रकट है :-

"हीरा जन्म अमूल्य था
कोढ़ी बदले जाय।।"

मनुष्य स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, यश-कीर्ति, ऐश्वर्य आदि के पीछे आसक्त होकर सुध-बुद्ध ही खो बैठता है। माया-जाल में फंस कर सत् कर्मों से मुँह मोड़ कर बुरे कर्मों की ओर प्रेरित हो जाता है और उसे प्रण का तनिक भी स्मरण नहीं रहता है जिस से उसे कुम्भी पाक नरक से मुक्ति प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि

पशुओं की भाँति 80-90 वर्ष की आयु बिता कर फिर इस जन्म-मरण के चक्कर में बँद जाता है। इस उत्तम नर देही को पाकर भी इस का लाभ नहीं उठा पा सकता है। इसी बात का संकेत एक कविता के इन पंक्तियों से स्पष्ट है :-

"यी ओसुस तय ती रूदुस नय;
नाहकय मशिरोव म्य पान।
सू सू स्वरनुय वाद्ऽ क्वरमुत तय;
आनय ति रूज़ नो ज़ान।।"

अतः आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने के लिए योग साधना द्वारा योग की चरम अवस्था 'निरुद्ध अवस्था' में ही स्थिति पाने की आवश्यकता है। 'ध्यानबिन्दु अपनिषद्' में इसी 'निरुद्ध' अवस्था पर विशेष बल ड़ाला गया है। इस के अनुसार मन को आत्मा की ओर तेल धारा वत्त केन्द्रित करके स्वस्वरूप से अच्युत रखना ही जन्म को सफल बनाने का मार्ग होता है। व्यर्थ के विचार, व्यर्थ की चिन्ता, व्यर्थ का भय आदि जीवात्मा को 'निरुद्ध अवस्था' में ठहरने नहीं देता है।

संत कबीर दास जी के इस दोहे से इसी भाव का वर्णन है :-

"कबिरा क्या मैं चिंतहूँ
मम चिन्ते क्या होय।
मेरी चिन्ता हरिः करै
चिन्ता मोहि न कोय।।"

अर्थात् : संत कबीर दास जी महाराज का कहना है कि

मैं किस बात की चिंता कुंरू, मेरी चिन्ता करने से क्या होगा? ईश्वर तो मेरी चिन्ता स्वयं करते हैं अतः मुझे कोई चिन्ता ही नहीं है।

जो सिद्ध योगी होते हैं अथवा कामिल पहुँचे हुए संत होते हैं वह सदा ही 'निरुद्ध अवस्था' में ही होते हैं। उनमें इस बात का भास ही नहीं होता है कि कब 'प्रत्याहार' (इन्द्रियनिग्रह) समाप्त होता है तथा 'धारणा' आरम्भ होती है। कहाँ 'धारणा' समाप्त होती है और 'ध्यान' शुरू होता है। कब 'ध्यान' समाप्त होता है और 'समाधी' लग जाती हैं। जिस ही क्षण वह अभ्यास के लिए बैठ जाते हैं उसी क्षण समाधी निष्ठ हो जाते हैं। बिना किसी प्रयास के अथवा बिना किसी विचार के वे सदा ही चित्त वृत्ति निरुद्ध में होते हैं। वे सदा ही ब्रह्म निष्ठ तथा आनन्द मग्न रहते हैं और वैभव-शाली होते हैं। ऐसे ही सिद्ध योगियों तथा कामिल पहुँचे हुए संत पुरुषों से जगत का तथा दूसरे अन्य जीवात्माओं का भी कल्याण होता है।

2. ईश्वरीय सत्ता की ओर अग्रसर होने के उपाय :-

प्रायः यही देखने को मिलता है कि कभी कभी मन चञ्चल स्वभाव के कारण ध्यान-धारणा में नहीं लग जाता है अथवा संकल्प-विकल्प उठने के कारण स्थिर नहीं रह पाता है तो इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करनी होती है। सत्गुरु के चरण कमलों का स्मरण करके कुछ क्षणों के पश्चात धीरे-धीरे यह अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित होने लगता है।

बार बार ऐसा करने से अन्त में यह स्वतः स्यद्ध

ही आत्मा की पहचान पाकर ईश्वरीय सत्ता की ओर अग्रसर होता है। जैसा कि इस दोहे में वर्णित है :-

"धीरे धीरे रे मना
धीरे धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा
ऋतु आए फल होय।।"

अर्थात् :- अरे मन समय पर ही सब कुछ सिद्ध होता है। केवल दृढ़ निश्चय की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार ऋतु आते ही फल पक जाते हैं चाहे माली कितनी बार पौदों को क्यों न सींचे। इसी प्रकार शनैः शनैः ही अभ्यास का फल प्राप्त होता है। इसमें उतावली दिखाने से कुछ नहीं बनता है।

इसी तथ्य का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार हुआ है :-

i. **"शनैः शनैः उपरमेत्**
बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्म संस्थम् मनः कृत्वा
न किञ्चित् अपि चिन्तयेत्।।

अर्थात् :- धीरे धीरे क्रम से अभ्यास करते हुए उपरामता (स्थिरता) को प्राप्त होवें तथा धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के बिना और कुछ भी चिन्तन ना करें।

ii. **"यतो यतो निश्चरति मनः**
चञ्चलम् अस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्य एतत्
आत्मनि एव वशम् नयेत।।

अर्थात् :- यह स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन

जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है उस उस विषय से मन को हटा कर बिना किसी हठ के बार बार परमात्मा में ही निरुद्ध करें।

iii. "प्रशान्त मनसम् हि एनं
योगिनम् सुखम् उत्तमम्।
उपैति शान्त रजसम्
ब्रह्मभूतम् अकल्मषम्।।

अर्थात् :- जिस का मन भली प्रकार से शान्त है, जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे सत् चित् आनन्द घन ब्रह्म के एकीभाव हुए योगी जन को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

iv. "ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म काञ्चनः।।

अर्थात् :- जिसका अन्तः करण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है और जिसकी स्थिति विकार रहित है तथा जिसकी इन्द्रियाँ अच्छी प्रकार जीती हुई हैं और जिसके लिए मिट्टी-पत्थर-सोना समान है, वह योगी युक्त होता है अर्थात् भगवत् प्राप्ति वाला होता है, ऐसा उचित ही कहा जाता है।

v. "विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निः स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः सः शान्तिम् अधिगच्छति।।"

अर्थात् :- जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित और अहंकार रहित तथा स्पृहारहित होकर बर्तता है वह शान्ति को प्राप्त होता है।

vi. "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ न एनाम् प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा अस्याम् अन्तकाले अपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।।"

अर्थात् :- भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे पार्थ

ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की यह स्थिति है। इसको प्राप्त होकर वह कभी मोहित नहीं होता है और अन्तकाल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

इस स्थिति का ग्रहण करने के लिए ऐसा विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है कि ध्यान को सत्गुरु ध्यान से पुष्टि मिलती है, कर्म को निष्काम कर्म काटता है और स्मरण को गुरु मन्त्र जाप स्थिर बनाता है।

वास्तविकता तो यह है कि यह ब्रह्मानन्द की गति हाथ लगनी बहुत ही कठिन होती है। यह हृदय और मस्तिष्क के बीच की गति है। यह गति भावात्मक तथा विचारात्मक स्थिति को त्याग कर ही ग्रहण की जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य में अनेकों आन्तरिक शक्तियाँ हैं जिनको उजागर करने से मानव ऐसे चमत्कार कर बैठा है जो स्पष्ट रूप से देखने में आते हैं परन्तु फिर भी विश्वास नहीं होता कि यह चमत्कार मानव द्वारा ही निर्मित किए हुए हैं। विज्ञान द्वारा जितने भी चमत्कारों का निर्माण किया गया है उनको देखकर मनुष्य पहले पहले आश्चर्य चकित रह जाता था। उसे विश्वास ही नहीं होता था कि यह मानव द्वारा ही निर्मित हो कर रहा है। धीरे धीरे अब तो यह चमत्कार प्राकृतिक जैसे प्रतीत होने लगते हैं। जैसे बिजली, वायुयान, टेलीफोन, रेड़ियों, टेलीविजन आदि आदि। यह सब तो इन्हीं मानवीय आन्तरिक शक्तियों का परिणाम ही है।

इसी प्रकार प्रकृति में भी कुछ चमत्कारिक प्रक्रियाएँ हैं जिन के प्रयोग से ही मानव ऐसे चमत्कारिक आविष्कारों का निर्माण कर सका है। इनमें विशेष प्रक्रियाएँ 'रोशिनी'

और 'वाणी' हैं अर्थात् 'Light' and 'Sound' जिस प्रकार मिट्टी, जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि भी प्राकृितिक प्रक्रियाएँ हैं जो स्थूल रूप से भी देखने में आते हैं परन्तु यह 'रोशनी' और 'वाणी' जो इन सभी प्रक्रियाओं की अधिष्ठात्री हैं स्थूल रूप से देखने में नहीं आती हैं। इनको ही 'संवित शक्ति' तथा 'परा वाणी' की सञ्ज्ञाँए दी जाती हैं। इन्हीं को 'राधा' तथा 'स्वामी' सहज-योग अथवा सूरत शब्द-योग में माना जाता है। मन की चञ्चल वृत्ति के कारण अन्तर में इनका स्पष्ट रूप से प्रकट होना तथा इनका प्रयोग में लाना अस्म्भव बनता है। अतः मन की स्थिरता अर्थात् 'शान्ति' अत्यन्त ही अनिवार्य हैं। इस प्रक्रिया को प्रकटाने के लिए मन तो स्वभाव से ही चञ्चल होता है जो एकाग्रता में बाधा ड़ालता है। मन की इस विक्षिप्तता को दूर करने का मुख्य साधन 'दृष्टि' तथा 'वाणी' को वश में करना होता है। दृष्टि को किसी आन्तरिक बिन्दु अथवा प्राकृतिक बिन्दु पर टिकाना होता है। इसी प्रकार किसी मन्त्र के जाप से विशेषकर गुरु-मन्त्र के जाप से जैसे "ओ३मकार", 'सो३हम', 'राधा स्वामी', आदि अथवा भजन-कीर्तन रूपी वाणी से मन को रमाणा होता है। इसी से मन की स्थिरता और शाँति प्राप्त होती है और मन शनैः शनैः अन्तर की ओर खिचा जाता है और वह अचम्भे कर दिखा बैठता है। जो समस्त मानव जाति के लिए तथा अपने लिए भी कल्याण कारी होते हैं। इसी से सूरत अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित होने लगती है। परन्तु इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि इन चमत्कारों की ओर आकर्षित नहीं होना होता है न ही इन अचम्भों

में महव होकर अभिमानित होना होता है। ऐसा केवल सत्गुरु मेहर तथा शरणागत भाव पर ही आधारित है। अतः सत्गुरु चरण वन्दना ही आत्मा का आधार स्तम्भ मान कर पहचानना होता है। यही सार वस्तु जानने में सहायक सिद्ध होता है।

3. चेत तथा अचेत मानसिक अवस्थाओं की परिभाषाः-

हमारे चेत मन (conscious mind) तथा अचेत मन (sub-conscious mind) पर बहुत सारे आवरण चढ़े हुए होते हैं जिन में पूर्व जन्मों के सम्सकार तथा इस जन्म में प्राप्त किए हुए अनुभव भी सम्मिलित होते हैं। हमारा 'चेत' मन केवल एक चोथाई होता है और तीन चोथाई 'अचेत' मन होता है। जो कार्य चेत मन से किया जाता है वह अचेत-मन में संचित होकर रहता है। और आवश्यकता पड़ने पर फिर चेत मन में प्रवेश हो कर रहता है, जैसा कि कम्प्यूटर में देखने को मिलता है। जो कोई भी कार्य सोच समझ कर बुद्धि अथवा मस्तिष्क से किया जाता है उसे 'चेत मन' का कार्य समझा जाता है। वह शीघ्र ही विस्मृति में चला जाता है परन्तु मिट नहीं जाता है। उसी को 'अचेत मन' का कार्य समझा जाता है। इस अचेत मन पर बहुत कुछ निर्भर होताा है। जैसे यदि हम किसी अजनबी को देखते हैं और उसके साथ एक दो दिन का सम्बन्ध स्थापित होता है। फिर हम उसको भूल ही जाते हैं। परन्तु एक दो वर्ष के उपरान्त जब वह अकस्मात ही हम से फिर मिल जाता है, हमें पहले पहले याद ही नहीं आता है कि इसको कहाँ पर देखा था और वह कौन होता है? जब मस्तिष्क पर दबाव सा ड़ालते हैं तो शीघ्र ही याद आता है कि हमने

दो वर्ष पूर्व उसे यात्रा में अथवा जहाँ कहीं भी देखा होता है एक चित्र की भाँति स्पष्ट दिखाई देता है। यह 'सचेत मन' से 'अचेत मन' में संचित हुआ होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह फिर सचेत मन में आता है और हमें सावधान करता है। इसी प्रकार जो कोई भी कार्य हम करते हैं उसका प्रभाव अचेत मन पर पड़ता है, चाहे सत्कर्म हो अथवा दुष्कर्म हो। यह अचेत मन पर अंकित हो कर रहता है और अन्ति समय पर सचेत मन पर इन कर्मों का चित्र हमारे सामने द्रष्टिगोचर होने लगता है। इन चित्रों का ताँता सचेत मन पर बँधता है जिन पर उस समय कोई नियन्त्रण ही नहीं बन पाता है। उस समय यह चित्र मन की अशान्ति का कारण बनता है और प्राण शान्ति से नहीं छूटते हैं। अतः निष्काम भाव से कर्म करने से मनुष्य स्वच्छन्द, निस्पन्द, निर्द्वन्द्व तथा निर्विकारी बनता है और निज स्वरूप में लीन होकर अन्ति समय पर स्वच्छंन्द अवस्था में प्राण छुटकर परम गति प्राप्त करता है, जो मनुष्य देह धारण करने का अभीष्ठ लक्ष्य होता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से होता है :-

"कस वनूऽ हाल क्या सा'ऽबूऽ वनूऽ।
सनूऽ गोम च्योम अमृत।।°°

नय जाग्रत स्वप्न स्वष्पती,
नय तुरी तुरिया तीत।
वुछान ज्ञानूऽवान क्या वनूऽ।।°°

नय चूऽ बूऽ नय यी सु,
नय छु दृष्टा दर्शन।

नय दृष्य अद्ऽ पथ क्या सनूऽ।।°°

भाव नूऽ अभाव नूऽ आसुन,
न'ऽ नूऽ आसुन कॆंह वुछुन।
छो'पूऽ छम गछ़ान म्वत मा बनूऽ।।°°
गूव्यन्दूऽ च़्ये'ति गूव्यन्दिय,
ज़ोनुथ अन्दूऽ वन्दय।
निशि म्वकल्योख ज़्यनूमरूनऽ।।°°

हमारा मन विचारधाराओं का संग्रह है जिस में 'अंह' विचार विशेष रूप से संग्रहीत है, जो अचेत मन की प्रक्रिया होने के कारण हमारी समझ के बाहिर की वस्तु होती है। हम जानते हुए भी इस पर नियंत्रण नहीं कर पाते और अंहकार के भागी बन जाते हैं। यह मन की विचारधाराएँ पूर्व जन्मों तथा इस जन्मों के कर्मों पर भी आधारित हैं। इन कर्मों को प्रारब्ध कर्म, तात्क्षणात् कर्म, सञ्चित कर्म आदि की उपाधि दी जाती है। यद्यपि प्रारब्ध कर्म बदल तो नहीं सकते हैं, फिर भी निष्काम भाव से भोगने पर अर्थात् अनासक्त भाव से भोगने पर विचारधारा पर नियंत्रण स्थापित हो सकता है। इसी से मानव का कल्याण हो सकता है और जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाना सम्भव हो सकता है। क्योंकि निष्काम भाव से कर्म का भोगना कर्म का काटना होता है। इस से कर्म चक्र रुक जाता है और आवागमन का चक्र मिट जाता है। मन की जागृत अवस्था का स्थान मस्तिष्क है और सुप्त अवस्था का स्थान हृदय होता है। इन दोनों के बीच का स्थान सुषुप्ति अवस्था है। इसी बीच के मार्ग में चलने से मनुष्य निष्काम बन सकता

है। इस संसार में सब से शक्तिशाली जो है वह मन है। इस को वश में रखने का उपाय सुषुप्त अवस्था को ही अपनाना है। इसी अवस्था में रहने से मन का करार बना रहता है। इस प्रकार मन के वश में आने से सारा संसार वश में किया जा सकता है। यही सुषुप्ति अवस्था ही योग की निरुद्ध अवस्था प्राप्त करने का साधन बन सकती है। यही भाव संत कबीर दास जी महाराज के इन दोहों से स्पष्ट है :-

(क) "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाईये, मन के ही परतीत।।"

अर्थात् :- मन के परेशान होने पर किसी प्रकार की सीद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है परन्तु मन के करार में होने से हर ओर से सफलता प्राप्त होती है यहाँ तक कि परमात्मा को भी मन के ही विश्वास से प्राप्त कर सकते हैं।

(ख) "जेती लहर समुद्र की
तेती मन ही दोर।
सहज ही हीरा नीप[1]जे
जो मन आवे ठौर।।"

प्राप्त होगा[1]

अर्थात् :- जिस प्रकार समुद्र के लहर की गति अत्यन्त तीव्र होती है उसी प्रकार की दोड़ मन की होती है। यदि मन टिकाने लग जाए तो अन्तर आत्मा रूपी हीरा सहज से ही हाथ लग जाता है। अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार मन के वश में होने से ही सहज में प्राप्त हो जाता है।

इसी सुषुप्ति अवस्था का विवरण स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में मिलता है :-

"न'ऽतति मूजूद न तति फना।
अमा सना पथ क्या रूद।।°°
न'ऽदो'गुना न'ऽ कुन ज़ो'ना।
शिन्याह ततिनस ग'व नाबूद।।
यपाऽ'स्त्य ख़्वपा'ऽस्त्य सुय पान् छुना।।°°
बुद्धी अभाव न'ऽ रूद मना।
रिन्द्ऽ अथ जा'ये गयि र'ऽ बूद।।
ज़्यव वुठ न'ऽ फोरन वोऽ'न्य क्याह वना।।°°
कुनिरुक गूव्यन्दस ग'व स'न्ना।
काँऽ'सि सी'ऽत्य रूदुस न्ऽ म्यन्नुत विरूद्ध।।
पान्ऽ सान शिव ज़ोनुन पन्ऽ पन्ना।।°°

साधक इस अवस्था की वास्तविकता मन के करार द्वारा प्राप्त कर सकता है। मन का करार योग-अभ्यास तथा अनुभव पर ही आधारित है। यद्यपि ग्रन्थ पोथियों के अध्ययन से ज्ञान में वृद्धि होती है तथापि केवल इनके पठन पाठन पर ही निर्भर नहीं रहना होता है। ज्ञान उपार्जन अनिवार्य तो है परन्तु फिर भी निर अहंकार, निष्काम भावना, निर्द्वन्द्व, निर्विकार, निर्विकल्प, निराकार अवस्था प्राप्त करना विशेष महत्त्व रखता है। इन पंक्तियों से इस भाव की स्पष्टता प्रकट होती है :-

"ती म्य कर्ऽनाव यथ ना आसि कर्ऽनुय केन्ह।।
ती म्य स्वर्ऽनाव यथ ना आसि स्वर्ऽनुय केन्ह।।

4. योग साधना की आवश्यकता :-

मन की स्वाभाविक प्रक्रिया ऐसी होती है कि इसको गहरी विचारधारा से जिस ढाँचें में ड़ाला जाए यह ऐसा ही बनता है। ध्यान धारणा में रखना चाहो तो ऐसा ही रहेगा। संसार की विषय वासनाओं के पीछे लगा दो तो

पीछे हटने का नाम भी नहीं लेगा। प्रायः जीवन की सफलता के लिए इस से उभरने का प्रयत्न करना होता है। इसी लिए योग साधना की आवश्यकता होती है। जिस से मनुष्य योग की चरम अवस्था 'निरुद्ध अवस्था' का आनन्द भोग सके। जीवन को सफल बनाने के लिए तथा मनुष्य जन्म का अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने के लिए योग साधना की अवस्थाओं को पार करना होता है। साथ ही साथ यदि मनुष्य दूसरों के गुण दोषों की ओर ध्यान देता है तो वह स्वयं भी उन से घेरा जाता है। चाहे थोड़े ही समय के लिए ही क्यों न हो फिर भी अभ्यास में बाधा ड़ालता है और स्वयं भी उनका शिकार बनता है। अतः मन को कदापि दूसरों के गुण-दोषों की ओर देखने नहीं देना चाहिए। केवल अपने आप को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। संत कबीर दास जी महाराज का यह दोहा इसी भाव को प्रकटाता है :-

"बुरा देखन में चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो मन खोजा आपना, मुझ सा बुरा न होय।।"

यहाँ पर संत कबीर दास जी महाराज का अभिप्राय यही है कि बुराई तो अपने आप में ही होती है और उसी को दूर करने का प्रयत्न करना होता है यदि वास्तविकता को प्राप्त करना चाहते हो। ऐसा योग साधना द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

इसी प्रकार दूसरे एक दोहे में इसी भाव की अभिव्यक्ति है, जो इस प्रकार है :-

"दोष पराये देखि के,
चलत हँसत हँसत।

आपन याद न आवई,

जिनका आदि न अन्त।।"

संत कबीर दास जी महाराज का कथन है कि लोग दूसरों के दोषों पर हँसते हैं और ताने मारते रहते हैं परन्तु अपने दोषों को भूल जाते हैं जिनका कोई शुमार ही नहीं होता है।

अतः मन की अस्थिरता को रोकने के लिए तथा शांति की उपलब्धि के लिए सुषुप्ति मार्ग का चयन करना ही अनिवार्य होता है। इस से मन की शुद्धि बनती है और मन आध्यात्मिक मार्ग की ओर अग्रसर हो जाता है। इस का आधार योग साधना ही होता है। जिस प्रकार गर्मी, शीत, रोशनी अथवा बिजली की रऽवें विज्ञान ने प्रकटाई हैं इसी प्रकार योग में विचार धाराएँ हैं जो चमत्कार का काम कर दिखाते हैं। जिसे मनुष्य की बुद्धि दंग रह जाती है। बुरे विचारों से मनुष्य बन्द जाता है और आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति नहीं कर पाता है। अच्छे विचारों से अन्तः करण की शुद्धि बनती है। मनुष्य में स्वतन्त्रता आ जाती है और वह स्वच्छन्द अवस्था प्राप्त कर पाता है। शुद्ध विचारधारा से ही मनुष्य सुषप्त अवस्था प्राप्त करके स्रुष्मना नाड़ी के द्वारा शनैः शनैः एकाग्रता ग्रहण करके भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ देख सकता है, भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुन सकता है और भिन्न भिन्न प्रकार के कृष्मे कर दिखाता है। इतना ही नहीं वह इस जगत के किसी भी उप स्थान अथवा सृष्टि के किसी भी उपग्रह तक संदेश भेज सकता है तथा वहाँ का संदेश भी प्राप्त कर सकता है। भविष्य में घटने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी

जानकारी प्राप्त कर सकता है। यह सारा ही इसी मन की गहन विचारधारा पर आधारित होता है। केवल दृढ़ निश्चय तथा मन के परतीत की आवश्यकता है। यह मन तो जीवात्मा की उपज है जो सारे ब्रह्माण्ड़ में विचरण करता है और यह जीवात्मा उसी परमात्मा ब्रह्म स्वरूप का एक अंश मात्र है, जिस में जीवात्मा द्वारा ही मन रूपी विचारधारा को लय करने का प्रयास करना ही मनुष्य जन्म का अभीष्ट लक्ष्य होता है और मन से विमन बनना होता है। इसी को हिरण्यागर्भ अवस्था कहते हैं। सदा ही सन्तुलित मन (Balanced Mind) की आवश्यकता होती है जिस से सावधान मन कहते हैं। जो सफल एकाग्रता की कुंजी होती है। चाहे सुख हो अथवा दुःख हो, चाहे गर्मी हो अथवा सर्दी हो, चाहे लाभ हो अथवा हानि, चाहे सफलता हो अथवा असफलता, यश हो अथवा अपयश, मान हो अथवा अपमान हो कदापि इन से मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए। यह अन्तः करण (अर्थात् अन्तर की सूक्ष्माति सूक्ष्म विचारधारा जिस से आत्मा की पहचान हो सकती है) की शुद्धि पर निर्भर होता है। जिस से मन अविचलित, अविकारी तथा निर्भय बन जाता है। यही वास्तविक संपत्ति होती है जो मानव के लिए अपनाना आवश्यक होता है। ऐसा केवल योग अभ्यास द्वारा ही मानव के बस में हो सकता है वास्तव में योग साधना का मुख्य उद्देश यही होता है कि मन में तृप्ति समा जाए। इसी को संतोष धन कहा जा सकता है। ऐसा ही संत कबीर दास जी महाराज के इस दोहे से विदित है :-

"गोधन गज धन बाजि धन, और रत्न धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान।।"

अर्थात् :- संतोष धन के प्राप्त होने पर गायों की सम्पत्ति, हाथियों की सम्पत्ति, घोड़ों की सम्पत्ति, लाल जवाहिर आदि की सम्पत्ति धूल के समान होती है।

इसी के बारे में स्वामी परमानन्द जी महाराज का कथन है :-

"कर्म्ऽ भूमिकायि दिज़ि धर्मुक बल।
संतोष ब्यालि भवि आनन्द्ऽ फल।।"

अर्थात् :- कर्मों का धर्म अनासक्त भाव से भोगना होता है। अतः निष्काम भाव से कर्म भोगते जाओ जिससे संतोष की प्राप्ति होती है जिस से मनुष्य सदा ही आनन्द का फल भोगता है।

यही भाव श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक से भी स्पष्ट है:-

(क) कर्मण्येवाधि कारस्ते
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा
ते सङ्गोऽस्तव

अर्थात् :- भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। अतः तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

(ख) "युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः काम कारेण
फले सक्तो निबध्यते।।"

अर्थात् :– युक्त कर्मयोगी कर्मों के फल को त्याग कर भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और अयुक्त सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है।

(ग) सर्व कर्माणि मनसा
संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नव द्वारे पुरे देही
नैव कुर्वन्न कारयन्।।"

अर्थात् :– अन्तः करण जिसके वश में है, ऐसा सांख्य योग का आचरण करने वाला व्यक्ति न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में सब कर्मों को मन से त्याग कर आनन्द पूर्वक सच्चिदानन्द घन परमात्मा के स्वरूप में स्थित रहता है।

अतः जब निर्लिप्त भाव से संसार का सारा व्यवहार किया जाए तभी संतोष धन प्राप्त होता है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब इन्द्रियों को वश में किया जा सके। ज्ञान–इन्द्रियाँ तथा कर्म–ईन्द्रियाँ तभी वश में हो सकते हैं, जब मन, जो इनका राजा होता है को वश में किया जा सके। वही मनुष्य जिस ने मन को वश में किया हुआ होता है वास्तविक आनन्द तथा स्थायी मुक्ति का अधिकारी होता है। इस मन को तभी वश में किया जा सकता है जब इसको एक ही रंग में रंगने का प्रयास किया जा सके। जिस की नीवं सत्गुरु मंत्र का जाप तथा सत्गुरु की कृपा दृष्टि ही होती है। इस में शुद्ध विचारधारा के साथ साथ श्रद्धा भावना तथा तीव्र इच्छा–शक्ति (strong will power) का होना भी आवश्यक होता है। वेदान्ती इच्छा, ज्ञान, क्रिया, समाधान, पिधान

(आवरण अर्थात् किवाड़) तथा निधान (जिस में परिपूर्णता हो) पर ही अधिक बल देते हैं। इनमें दृढ़ इच्छा ही प्रमुख है। यहीं मन के विचारधाराओं की तरंगे होती हैं। इन्हीं को मनोवृत्ति भी कहते हैं। यदि मन को विशुद्ध आत्मा के पहचानने की ओर लगाना है तो इन मनोवृत्तियों को स्तब्द व शान्त रखने का प्रयास करना होता है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब हर ओर से समान भाव रखा जाए। इसी को सम रस कहा जाता है। इसी लिए मनुष्य को सुषुप्ति मार्ग के चयन का प्रयोग करना होता है। इसी मार्ग को अपनाने से योग की पाँचवीं अवस्था अर्थात् 'निरुद्ध अवस्था' बन सकती है। योग साधना से ही इनकी पहचान हो पाती है।

मन तो एक अथाह समुद्र है और मन की वृत्तियाँ इस समुद्र की तरंगे अर्थात् लहरें हैं। जब समुद्र की सभी लहरें शान्त होती हैं तभी समुद्र के स्वच्छ व निर्मल जल में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार मन की वृत्तियाँ जब शान्त रहती हैं तभी विशुद्धात्मा प्रकट होने लगता है और 'निरुद्ध अवस्था' प्राप्त होती है। श्री शंकराचार्य जी महाराज ने भी छान्दोयोग उपनिषद् में इसी बात को स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि मनुष्य का कर्त्तव्य इन्द्रियों को वश में करना है और मन को एकाग्र बनाना है। दृढ़ निश्चय अर्थात् तीव्र इच्छा से ही वह सभी प्रातिबन्ध हटाये जा सकते हैं जो मन की एकाग्रता में बाधा ड़ालते हैं। जिसके लिए उद्यम अर्थात् कठोर प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यही योग-साधना का वास्तविक लक्ष्य है। इसी भाव का संकेत परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल महाराज जी के इस भजन में

मिलता है :-

"सत्‌गो'र्ऽ चऱणन तलच़ऽ नम।
कन थव वज़न छुय ज़ीर्ऽ बम।।

धुन्नात्मुक छुय 'सू' शब्द।
सुय ज़ानि यस यस सू सपुद।।
उद्यूगी छुख छुय न्ऽ गम।।°°

तिम तिम वा'ऽत्य सत्धामये।
अलख अगम अन्नामये।।
सत् नामसिय भरिथिय प्रेयम।।°°

सत् शब्दुक क्याहछुय निशान।
मन प्राण यक्दम तूर्य खिचान।।
निर्वाण दियी नियी अगम।।°°

नादस त्ऽ ब्यन्दस ग'ऽव अपोर।
गूव्यन्द्ऽ यस तोरुक छु ज़ोर।।
योरनस दयालन छुम कस्म।।°°

इसी उद्योग के द्वारा संकल्प-विकल्प, विषय-वासनाएँ, माया-मोह आदि जड़ से उखाड़ दिए जा सकते हैं जो मानव के लिए आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने में बाधक सिद्ध होते हैं। हज़रत् ईसाह मसीह का भी यही कथन है:

"आप अपने आप को रिक्त कर लो मैं उस रिक्त स्थान की पूर्ति स्वयं कर लूँगा। खोज करो तो तुम्हें हाथ आएगा।"

तात्पर्य यह कि मन की विचारधारा को चित्त की एकाग्रताद्वारा रिक्त कर दें तो उस रिक्त स्थान को

विशुदात्मा से सहज में ही भर दिया जा सकता है। इसी से अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इसी को जीवन-मुक्ति अथवा विशुद्धानन्द की संज्ञा दी जा सकती है। इसी के पीछे योगी जन प्रयत्नशील सदा ही रहते हैं। इसी के प्राप्त होने पर चमत्कारिक कृष्मे देखने को मिलते हैं जिनको देख कर बुद्धि दंग होकर रह जाती है। परन्तु सिद्ध योगी जो होते हैं वह इन चमत्कारों की ओर तनिक भी ध्यान न देकर रिक्त मन को ईश्वरी सत्त से भर देते हैं। स्वयं को उसी में लय करके उसी के साथ एकीकरण स्थापित करके कैवल्य पद प्राप्त करते हैं। इसी को निर्विकल्प समाधी कहा जाता है। ऐसे योगी विरला ही होते हैं - करोड़ों में एक - जो इस अवस्था को प्राप्त होते हैं। ऐसा ही योगी जन्म मरण के बन्धनों से छुटकारा पाता है। इस के लिए गहरा मानसिक वैराग्य, प्रतिदिन कुछ क्षणों का एकान्त वास, मौन-धारणा, स्मरण-ध्यान भजन-कीर्तन, सत्पुरुषों का संग तथा गुरुमुख बनने की आवश्यकता होती है। यह सब विधि पुर्वक योग साधना का ही परिणाम होता है।

5. आवागमन चक्र अर्थात् कर्म चक्र :-

ध्यान-उपासना से एकाग्रता प्राप्त होती है, एकाग्रता से सविकल्प समाधी, सविकल्प समाधी से निर्विकल्प समाधी, निर्विकल्प समाधी से जीवन-मुक्ति और जीवन-मुक्ति से आवागमन चक्र से छुटकारा प्राप्त होता है, जो जीवात्मा का असली लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना की आठ प्रक्रियाएँ मानी गई हैं, जो इस प्रकार हैं।

(i) यम   (ii) नियम

(iii) आसन व मुद्राएँ (iv) प्राणायाम,
(v) प्रत्याहार (vi) धारणा
(vii) ध्यान (viii) समाधी

(1) यम :- शुद्ध आचरण (self restraint) इसके अन्तर्गत सदाचार, सबके साथ शुद्ध व्यवहार तथा हर प्रकार के कर्त्तव्य का पालन आता है।

(2) नियम :- धार्मिक असूल (religious observance) इसके अन्तर्गत मर्यादा का पालन तथा अपनी योनि के अनुसार आहार-विहार तथा पूजा-उपासना का विधि-विधान अपनाना आता है।

(3) आसन व मुद्राएँ :- (postures) पूजा व उपासना में शरीर तथा बैठने के विशेष ढंग। जो भी पहले पहले अनिवार्य होते हैं। फिर मन की स्थिरता प्राप्त होने पर इनकी वास्तविकता कुछ और ही होती है।

(4) प्राणायाम :- (restraint upon breath) इसके अन्तर्गत प्राण-अपान वायु पर अकुंश रखना आता है। रीचक-पूरक-कुम्भक का सम बनाना ही प्राणायाम का लक्ष्य होता है।

(5) प्रत्याहार : (withdrawal of senses) इन्द्रियों का वश में रखना ही प्रत्याहार होता है।

(6) धारणा :- (concentration) इस के अन्तर्गत विचारों का थामना आता है। सकंल्प-विकल्प का वैराग्य यहाँ से ही आरम्भ होता है।

(7) ध्यान :- (Meditation) इसके अन्तर्गत स्वरूप का चिन्तन विशेष रूप से होना आता है।

(8) समाधी :- (blissful union with the supreme self i.e super conscious state of mind) इस अवस्था में

ईश्वर के ध्यान में मग्न होना तथा निज स्वरूप में विलीन होना आता है।

साधना की आठ अवस्थाओं का पालन करना एक सिद्ध योगी के लिए अनिवार्य है। इन में यम, नियम, आसन तथा मुद्राएँ बहिरंग साधना में आते हैं और धारना ध्यान, प्रत्याहार, समाधी आदि अतंरंग साधना में आते हैं। वैसे तो र्निवकल्प समाधी तक बहिरंग साधना ही होती है क्योंकि मन की विचारधारा जिसे चित्त वृत्ति कहते हैं वह निर्विकल्प समाधी तक साथ रहती है। जिस कारण से उपरामता अर्थात् स्थिरता प्राप्त होना सम्भव नहीं होता है। सविकल्प समाधी में भी विचारधारा साथ रहती है। अंतरंग साधना तभी संभव होती है जब मन का खेल रुक जाता है और 'निरुद्ध अवस्था' प्राप्त होती है। इसी को शून्य अवस्था अथवा निर्विकल्प समाधी कहते हैं।

योग अभ्यास में षट्-चक्रों पर ध्यान केंद्रित करने पर अधिक बल ड़ाला जाता है। इनके साथ ही उनके स्वामी देवताओं का भी ध्यान तथा मंत्र जाप का भी उल्लेख आता है। जैसे श्री गणेश, ब्रह्म-देव, श्री विष्णु देव, रुद्र तथा सदाशिव आदि की ध्यान धारणा सम्मिलित है। इसमें प्राणायाम की व्यवस्था भी आती है जिस से मन की शाँति प्राप्त होती है। मन की विक्षिप्तता दूर होते ही एकाग्रता को शक्ति प्रदान होती है और जीव अन्तर्मूखी बनने लगता है। अतः सदाशिव अवस्था तक तो बहिरंग अवस्था ही समझी जाती है। फिर सदाशिव अवस्था जिसको शाम्भवी अवस्था भी कहा जाता है के प्राप्त होने पर अन्तरन्ग अवस्था बनती है। यहाँ धारणा

में एक चित्त वृत्ति अर्थात् मानसर की एक तरंग क्रियानवित होती है। इस में एक ही केंद्र बिन्दु रहता है चाहे वह सगुण-ब्रह्म हो चाहे निर्गुण-ब्रह्म हो। इस प्रकार की एकाग्रता मनुष्य को सांसारिक विक्षेपों तथा बन्धनों से निवृत बनाता है। उसके सामने राजसू यज्ञ, दान, व्रत, हवन आदि कुछ भी नहीं दिखाई देने लगते हैं। यह सब खेल तमाशा जैसे प्रतीत होते हैं। इसी तथ्य की पुष्टि हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी के इस भजन में मिलती है :- (वला करयो ल्वलऽ मतऽ)

"तस कुस मरि सु कस मरि लोलो।
सहज़ऽ भाविय प्रावि युस मरि लोलो।।°°
मुह्नी न्यन्दरे ग'व युस हुशियार।
पानसिय निशि त'म्य वुछ पनुऽनुय यार।।
समरस च्यथ तस नो रूद आज़ार।
निर्द्वन्द्व निर्भय निष्क्रय अपार।।
पान ज़ोन पनुन तस कुस खरि लोलो।।
अत्यन्त अभाविय क्वर दृष्यसिय।
नय ज़गत् नय रोज़ि ब'ऽय तय च़िय।।
नय हा'ऽरथ नय रोज़ि कुन तय ज़िय।
पान अवाच़ि पद ज़ानुन सुय च़िय।।
फना मंजूऽ ग'व बका वरि लोलो।।°°
क'र्य क'र्य चन्द्रायन द'र्य द'र्य व्रत।
पां,ऽच्य अग्न ज़'प्य ज़'प्य तपिय न्यत्।।
सूर म'ल्यतन पानस ति वा'ऽल्यतन रथ।।
आत्मऽ ज्ञानऽ रो'ऽस मिटन नूऽ अतूऽ गथ।।
तोति नूऽ तरि पानस करि फरि लोलो।।°°

स'र्व आत्मऽ भाव प्राव प्रज़्ऽनाव पान
गूव्यन्दऽ ज़िन्दऽ गयि दयि स'ऽन्ज़ ज़ान।।
पूज़ायि ला'ऽगिथ शिवस मन तय प्राण।
रिन्दय च़्येय ज़िन्दय द्रावियि अरमान।।
प्वज़ वन्ऽ नुय मुर्खन च़रि लोलो।।°°

6. वेद शास्त्र के आधार पर ससीम को असीम में लय करने के गुण :-

वे योगी कितने ही भाग्य-शाली होते हैं जिन की सहजवृति से ही चित्त की एकाग्रता बनती है। जिन पर सत्गुरु महाराज की असीम कृपा होती है तथा जिन की सत्गुरु महाराज पर अपार श्रद्धा होती है जिस से वे सदा ही सहज समाधि निष्ठ रहते हैं। इसी को राज्य योग की उपाधि दी जा सकती है। इसी से मन सहज ही से वश में किया जा सकता है और ससीम को असीम में लय किया जा सकता है। वेद शास्त्र के अनुसार इसका अधिकारी वही हो सकता है जिस में निम्न प्रकार के गुण विद्यमान होते है:-

1. विवेक; 2. वैराग्य; 3. सद्गुण; 4. ममुक्षा;

1. विवेक :- शुद्ध-शुद्ध सोचने, परखने तथा अनुभव करने की शक्ति जिस से सत्य, अनन्त तथा अविनाशी का पता लग जाये और समझ में आये कि आत्मा ही सत्य है शेष सब मिथ्या है 'विवेक कहलाता है।

2. वैराग्य :- संसार तथा उसके पदार्थों के प्रति अनासक्ति का भाव। जल में कमल की भाँति सब कुछ होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहना अर्थात् रागद्वेष से रहित संसार के साथ व्यवहार करना वैराग्य कहलाता

है। उदासीनता का भाव अर्थात् ऐसा समझना कि सब मिथ्या, नश्वर तथा भ्रमित जैसा कि स्वप्ने में होता है। इसी से वैराग्य भाव बनता है। इस का तात्पर्य नहीं कि कुछ न करना अपितु पीछे को छोड़ना और आगे का विकास पाना ही वैराग्य कहलाता है।

3. **सद्गुण** :– निम्न लिखित छः गुणों को अपनाना सद्गुण के अन्तर्गत आता है :–

(क) शम :– मन का सन्तुलित तथा शान्त होना, चित्त में स्थिरता तथा मन को पूरी तरह से वश में रखने का नाम 'शम' कहलाता है। इस में मन का करार (जैसे सुषप्त अवस्था का प्राप्त होना) आता है।

(ख) दमः–इन्द्रियों पर काबू पाना तथा उनका पूरी तरह से दमन करना अर्थात् शान्त रखना ही 'दम' कहलाता है।

(ग) उपरतिः–सांसारिक झंझट के प्रति उदासीनता, कर्मों का निष्काम भाव से भोगना, विचलित न होना, रीति रस्मों के पीछे अधिक ध्यान न देना अर्थात् सब कुछ करते हुए इनके पीछे ही समय व्यर्थ न गवाँना आदि उपरामता के अन्तर्गत आता है। उपरता से तात्पर्य यहाँ मन की स्थिरता से है।

(घ) तितिक्षाः–तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ सहिष्णुता, क्षमा, माफी, शान्ति आदि है। अतः तितिक्षा के अन्तर्गत सहनशीलता, दुःखों तथा कष्टों का धीरज के साथ सहन करना आता है।

(ङ) श्रद्धाः–गुरु के वचनों में पूर्ण रूप से विश्वास रखना श्रद्धा के अन्तर्गत आता है। इस में सभी धार्मिक ग्रन्थों का आदर भाव रखना भी आता है।

(च) समाधानः मन की सजगता तथा एकाग्रता लाना ही समाधान कहलाता है

4. मुमुक्षा :- मुक्ति अथवा परमात्मा की प्राप्ति की प्रबल इच्छा ही मुमुक्षा कहलाती है। इस के अन्तर्गत सांसारिक बन्धनों से छूटकर परम् तत्त्व में विलीन होना आता है।

वास्तव में संत मत की गति इन सब से न्यारी है। संत मत जीवात्मा को सभी सांसारिक बन्धनों से छुटकारा दिलाने का मार्ग दिखलाता है जिस से वह संसार का सारा व्यवहार करते हुए भी इस से निर्लिप्त तथा निरासक्त बनकर रहता है। संत मार्ग में भक्ति, प्रेम, विनय, विनम्रता तथा श्रद्धा पर विशेष बल ड़ाला जाता है। यही गुण सामान्यतया परमात्मा को भी प्यारे लगते हैं तथा आध्यात्मिक मार्ग की यात्रा को शीघ्र ही तय कराते हैं। ईश्वर के प्रेम की सुधा (अमृत) हज़ारों पापों को धो ड़ालती है और जीवात्मा को निर्मल बना कर असीम में विलीन कर देती है और कर्मों के चक्कर तथा आवागमन के चक्कर से उसे मुक्त करा देती है। इसमें नमन, स्मरण, कीर्तन, याचन तथा समर्पण पर विशेष बल ड़ाला जाता है। यही भाव परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के प्रार्थना भजन की इन पँक्तियों से प्रकट है:-

"यक्दम चॢयम सा'ऽरिय कसर।
पापन पो'ऽज्यन प्यठ क्याह हसर।।
बस छम म्य च्या'ऽञी अख नज़र।
सो'ऽय कर गूव्यन्दो म्य दान दिम।।

----००----

ॐ R.S.

पञ्चम खण्ड़

योग साधना में
भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ
तथा
विशेष योग धारणाएँ

ॐ R.S.

1. आध्यात्मिक ध्वनियों का विवरण :

हमारे परम् पूज्यनीय सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी की अमृत वाणी योग साधना की भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों के बारे में इस प्रकार वर्णन करती है :-

(क) "घट्ंऽ शंख मिर्दग्ंऽ रो'ञ्ये।
अमि छो'ञ्ये मन म्य न्यूथ।।

चंग्ऽ सारंगय वज़न छय।
तथ गिन्दन छुय टोठ म्योन।।
बाजि मो'र्ली बीन ठञ्ये।।°°

बूज़मुत संतव अृष्यव।
मुनियव त्ऽ ब्यियि यूगीश्वर'ऽव।।
बूज़ य'ऽ म्य तस छि धन्य धन्ये।।°°

म्यूठ मधुर रस्युल वज़न छुय।
साज़्ऽ संतूर बोज़तो।
अनहद सत् मण्ड़ल्ऽ धन्ये।।°°

उद्ध्ऽ गीतिय म्चव गूव्यन्दो।
रात त्ऽ दो'ह त'थ्य सी'ऽत्यचूऽ रोज़।।
सीर्ऽ कथ्ऽ मो व'न चूऽ न'ञ्ये।।°°

इसी प्रकार दूसरे भजन में इन ध्वनियों को इस प्रकार प्रकटाया गया है :-

(ख) "तमि आलमुक आलविय ग'व यस कनन।
त'स्य ननन गूव्यन्द्ऽ छो'प्ऽ कर केन्ह म्ऽ वन।।°°

वुछ़तृऽ ज़ूला क्याह अजा'यिब छुय दज़न।
बाजि मो'र्ली बीनृऽ सेतारय वज़न।।
आरृऽ पाँछोल ज़न छु दरियावा ग्रज़न।
शब्दृऽ अभ्यासस मंज़ युस हो सज़न।।°°

यस मुचरुख तोरय तोर दरृऽवाज़ये।
त'म्य बुज़िय सत्यलूकुक साज़ये।।
प'ऽज़्य पा'ऽठय गूव्यन्दृऽ सुय छुय राज़ये।।°°

एक और भजन में इन भिन्न भिन्न ध्वनियों का वर्णन इस प्रकार आया हैः-

(ग) "लालृऽ लायय लोलृऽ नादा।
लोलृऽ आलव बोज़तो।।°°

नादृऽ मन्ज़य ब्यन्दिय द्राव,
ब्यन्दृऽ मन्ज़य नाद सू।
र'ऽवृऽ स'ऽन्दे ख्वतृऽ चम्कान,
शोलृऽ आल'व बोज़तो।।°°

रंगृऽ रंगय मिर्दगंय,
सारन्गृ रारन्ग मधुर।
सूहन्गृऽ मो'ऽर्ली बीनय,
ढ़ोलृऽ आलव बोज़तो।।°°

वज़नस तथ नो छुय छ़्यन,
त्रटृऽ तोपय ज़न वज़न।
मायाये स्यी'ऽत्य छु यो'छि्य,
गोलृऽ आलव बोज़तो।।°°

i. परमीश्वर श्री सत्गो'ऽर

ii. ओरय ़च्यति टोठ्योय।

iii. द्युतहय पानय गूव्यन्दऽ

iv. कोल्ऽ आलव बोज़तो।।°°

इसी प्रकार की ध्वनियों के बारे में स्पष्ट वर्णन इस भजन में भी आया है :-

(घ) वो'थू न्यन्दरे फ्वलयो प्रभात्,
गाश्ऽ तारुख ख्वतये।
बोलान को'स्तूर सू रात।।°°

वज़नि ल'ऽजि अ'ऽछ़ हृदयि मन्दर,
थाल'ऽजि शंख सो'ऽन्दर।
आरती क'र रथि खार यि साथ।।°°

सत्गो'रनिय आर च्योन ओ'य।।
गूव्यन्द्ऽ तमन्ना ़च्य द्रो'य।।
़च्यति बन्योय शिव्ऽ शक्ति् पात।।°°

2. वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाणियों का स्वरूप :

योग साधना में जब साधक सुष्मणा नाड़ी अर्थात् ब्रह्म नाड़ी के माध्यम से सहस्रार में पहुँचने का प्रयास तथा अभ्यास करता है तो ध्यान धारना के स्थिर होते ही 'नाद' की ध्वनि तीव्र होने लगती है और घ़ंटा आदि वाद्य की ध्वनियाँ होने लगती हैं जैसा कि स्वामी जी महाराज के इन भजनों से स्पष्ट है। साधक को अभ्यास द्वारा इन ध्वनियों का शनैः शनैः स्पष्टी-करण होता है परन्तु इनकी ओर ध्यान नहीं देना होता है।

यह ध्वनियाँ चार वाणियों का रूप धारण करती हैं जो इस प्रकार की होती है:-

(क) वैखरी; (ख) मध्यमा; (ग) पश्यन्ती; (घ) परा।

(क) वैखरी :- यह वाणी का व्यक्त रूप होता है। इसे 'कन्ऽवान' से जाना जाता है जो सत्य का रूप धारण करती है। (कण्ठ)

(ख) मध्यमा :- वास्तव में यह 'मध्यम' स्वर है जो संगीत में सप्त स्वरों में से चौथा स्वर 'म' तथा (व्याहृत) ओ३मकार के मकार से जाना जाता है। (ओष्ठ)

(ग) पश्यन्ती :- 'नाद' की वह अवस्था जब कि यह मूलाधार से उठकर हृदयस्थल में जाती है अर्थात् अनाहत् में जाती है (भृंगी) 'पश्यन्ती' कहलाती है।

(घ) परा :- परमार्थ का ज्ञान कराने वाली श्रेष्ठ जो सबसे परे की वाणी जिसे 'ब्रह्म विद्या' भी कहते हैं 'परा वाणी' से जानी जाती है (शून्य)। 'परा वाणी' 'संवित शक्ति' का ही नामान्तर है। यह 'परा वाणी' कदम्बमाला से घिरी हुई है। कदम्बमाला से तात्पर्य कुण्डलिनी-शक्ति से है। इस कदम्बमाला के षट्-दल रूपी छः ताले लगे हुए हैं। इनके खोलने पर ही कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। जब यह गहन अभ्यास द्वारा अपने स्थान से हटती है तो साधक को इस 'परा वाणी' से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है। 'बिन्दु', कुण्डलिनी, नाद, इन्दुलेखा, परावाक् मातृका, व्योम आदि यह सभी 'परा वाणी' अथवा 'संवित शक्ति' के ही रूप होते हैं। शरीर के अन्तर में स्वाभाविक रूप से अनाहद् ध्वनि चलती

रहती है। इसी को 'नाद' कहते हैं। प्रायः दो वस्तुओं के टकराने से ध्वनि उत्पन्न होती है। परन्तु शरीर के भीतर इसके विपरीत बिना किसी टकराव के यह 'नाद' ध्वनि निरन्तर होती रहती है। योगी इस ध्वनि को योग अभ्यास द्वारा निरन्तर सुनने में समर्थ होता है। इस में सत्गुरु कृपा चमत्कार कर दिखाता है। 'परा नाद' जिसे 'अमृत नदी' भी कहते हैं शरीर में अनाहद नाद रूपी ध्वनि से निरन्तर दिन रात चलती रहती है। परन्तु माया के वश में होने के कारण मनुष्य इसे पहचान नहीं पाता है। योग अभ्यास द्वारा जब माया का पर्दा हट जाता है तो इसे स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है, जो योग साधना का वास्तविक उद्देश होता है।

यह ध्वनियाँ 'शब्द-ब्रह्म' की ही प्रक्रिया है। अनाहत् नाद का व्यापार स्वरूप ही शब्द ब्रह्म (cosmos sound) है जो योगियों द्वारा कुण्ड़लिनी जागृति से तथा सन्तों द्वारा सूरत-शब्द योग से सुनने में आता है, और 'परा, 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' तथा 'वैखरी' का रूप धारण करती है। यही 'अनाहद् नाद' जीव और ब्रह्म का एकीकरण कराने वाली शक्ति होती है। इसी के बारे में पञ्चस्तवी के तृतीय स्तव - 'घटस्तव' के अन्तिम पद में ऐसा वर्णित है :-

"शब्द ब्रह्म मयि! स्वच्छे
देवि त्रिपुर सुन्दरि!
यथा शक्ति जपं पूजां
गृहाण परमेश्वरि।।"

अर्थात् :- 'शब्द ब्रह्म रूपी तीनों रूपों तथा तीनों

अवस्थाओं में ठहरी हुई, निर्मल चित्त स्वरूप 'संवित शक्ति' जो परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति है, उसी से साधक यथा शक्ति से किया हुआ जाप व पूजा स्वीकार करने की विनम्र प्रार्थना करता है, ताकि उसका प्रकटी करण हो जाए।

इस स्तव का नाम "घटस्तव" इसी लिए पड़ा है क्योंकि यह "संवित शक्ति" घड़े में अष्ट-सिद्धियों के ढ़क्कन से ढ़की हुई है। जो साधक इस अष्टसिद्धि रूपी ढ़क्कन को ठुकराता है वही 'संवित्' अथवा 'परा' शक्ति को जान सकता है और उसी विस्तार से ब्रह्मसाक्षात्कार सरल रूप से कर सकता है। इसी स्तव के अन्तिम श्लोक में इसको 'अमृत नदी' 'सुधा नदी' अथवा 'वैत्तारनी नदी' के रूप में प्रकटाया है जो इस प्रकार है :-

"नमामि यामिनी नाथ लेखालङ्कृत कुन्तलाम्।
भवानी भवसन्ताप निर्वापन सुधा नदीम्।।"

अर्थात् :- मैं उस अमृत नदी रूप "संवित शक्ति" देवी को प्रणाम करता हूँ जो चन्द्रमा की कला से अमृत रूपी शब्नम वर्षा कर के संसार के दुःखों को हटाने वाली है।

शिवस्तोत्र में इसके बारे में इस प्रकार वर्णित है :-

"सौख्म् एष भक्तः समागमः" अर्थात् : जो निरन्तर ध्यान मग्न होता है उस ब्रह्म निष्ठ योगी को इस 'परा वाणी का समागम होता है।

इसी के बारे में शिव महिम्नः स्तोत्र में वर्णित है :-

प्रहृष्य द्रोमाणः
प्रमद सलिलोत्संगित दृशः"।

अर्थात् :- उस परम् तत्व को देख कर योगी का रोम रोम हर्ष से पुल्कित होता है और उस के नेत्रों से आनन्द के आँसों बहने लगते हैं। यहाँ 'परम् तत्व' से तात्पर्य यही 'संवित शक्ति' अथवा 'परा-वाणी' ही है।

इस प्रकार हमारे अन्तःकरण में भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं जिनका स्रोत यही 'संवित शक्ति'" ही होती है। इन से आत्म निश्चय दृढ़ बनता है। जब तक ब्रह्म-विध अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक यह ध्वनियाँ सुनने में नहीं आती हैं। इन ध्वनियों को सुनकर जीवआत्मा आनन्द से रोमाञ्चित हो उठता है परन्तु इस बात का ध्यान रखना होता है कि इन पर महव नहीं होना होता है। इन ध्वनियों के बारे में स्वामी जी के भजनों द्वारा ऐसा वर्णन आया है :-

"प्रथम छिन्न-छिन्न ध्वनि; दूसरी भञ्जना (थालिज);
तीसरी भेधाना (मृदंग); चोथी में सिर हिलाना (झूमना);
पाँचवीं तालव्य में सुधा; छट्टी त्रिकुटि में सुधा वृष्टि;
सातवीं में पश्यन्ति; आठवीं परा वाक् सुनना;
नवीं में शरीर का अदृष्यसा बनना और ईश्वरी अवस्था का सादृष्य होना;
दसवीं में पार-ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म स्वरूप) अवस्था का प्राप्त होना सम्मिलित है।"

इसी अवस्था की प्राप्ति के लिए देवी-देवता, कारण आदि भी तरसते रहते हैं, यहाँ तक कि स्वर्ग का अधिपति इन्ध्र भी जो असीम धन तथा वैभव का स्वामी

है इस असीम आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता है। योगी जिसने योग अभ्यास द्वारा मन को वश में किया हो और जो सदा ही स्वरूप निष्ठ होता है, साथ ही साथ समदृष्ट होता है वहीं इस अवस्था के आनन्द का रसास्वादन करता है। वह सदा ही अद्वैत निष्ठ, कैवल्य-युक्त, प्रेम-रस का पान करने वाला होता है। वह इन भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों का समावेश करते हुए भी अर्थात् इनके साथ एक होते हुए भी इनमें आसक्त नहीं होता है। जिस प्रकार घड़ी को एक बार चाबी देने पर वह चोब्बीस घंटों तक अनथक चलती रहती है इसी प्रकार योगी (साधक) दिन में एक या दो समय की उपासना से मन को शान्त तथा तृप्त बना कर आठों याम व्यवहार करते हुए भी स्वरूप निष्ठ होकर रहता है। ऐसी अवस्था सत्गुरु कृपा के बिना प्राप्त होना असम्भव ही होता है। गुरु से दीक्षा लेकर विधि वत अन्थक अभ्यास द्वारा ही गुरु कृपा से साधक इस अवस्था का पात्र बन सकता है। इसी अवस्था कें विषय में श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :-

"यत् ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्
ऐवं यास्[1]यसि पाण्ड़व।
येन भूतानि अशेषे[2]ण द्रक्ष्यसि[3]
आत्मनि अथो[4] मयि।।"

प्राप्त होगा[1] संपूर्ण[2] देखेगा[3] उसके उपरान्त[4]

अर्थात् :- हे अर्जुन! इस अवस्था पर पहुँचकर साधक को फिर किसी प्रकार का मोह नहीं होता है। जिस ज्ञान

के द्वारा सर्वव्यापी (अनन्त चेतन-रूप) समष्टि बुद्धि के आधार सम्पूर्ण भूतों को अपने अन्तर्गत देखेगा और उसके उपरान्त मेरे में; अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप में, एकी भाव हुआ सच्चिदानन्दमय, ही देखेगा।

दूसरे एक और श्लोक में इसका वर्णन इस प्रकार हैं:-

"सर्व भूतस्थम् आत्मानम्
सर्व भूतानि च आत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शनः।।"

अर्थात् :- सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकी भाव से स्थित रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में बर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

इसी भाव की अभिव्यक्ति हमारे सत्गुरु महाराज परम दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी के इस भजन में है:-

"दय नो दूर सु छु जायि जायि मंज़ वुछ।
युथ छु नज़दीक अछ'ऽनिय बायि मंज़ वुछ।।°°

शीनस मंज़ वुछ छुय ज़ल इथ्ऽपा'ठ्य।
बलियस मंज़ वुछ छुय बल इथ्ऽ पा'ठ्य।।
थलि थलि वुछ छुय कीवल इथ्ऽ पा'ऽठ्य।
शिव निर्मल हृदयि गो'फायि मंज़ वुछ।।°°

असिति भाते प्रेयि रूप्ऽ ज़ान दय कुल।
सुय लंग लंजि छुय मेव्ऽ मुशिक तय गुल।।

सुय बे रंग रंगू रंगूऽ छो'त तय वोज़ुल।
सुय बुल्बुल बोलान मायि मंज़ वुछ।।°°

आलमिय त्यलि नय ओस ज़ामुतुय।
सिर्यि चन्द्रम त्यलि नय ओस द्रामुतुय।।
वीद शास्त्र त्यलि नय ओस आमुतुय।
ओस गूव्यन्द त'ऽथ्य अवस्थायि मंज़ वुछ।।°°

इस प्रकार इन ध्वनियों का उद्देश्य केवल इतना ही है कि उस कैवल्य पद की प्राप्ति हो, जो मनुष्य देह धारी का वास्तविक लक्ष्य है।

3. वर्णात्मक तथा धुन्नात्मक नाम का प्रभावः

इस ध्वनि नाद के विषय में हमारे आदि गुरु श्री हज़ूर महाराज शिव दयाल जी की वाणी इस प्रकार है:-

"वर्ण धुनात्मक गाऊँ।
दोऊ का भेद दरसाऊँ।।
वर्ण कहुँ चाहे कहुँ अक्षर।
जो बोला जाय रसना कर।।
लिखन और पढ़न में आया।
उसे वर्णात्मक गाया।।"

अर्थात् :- नाम दो प्रकार का है - एक वर्णात्मक दूसरा धनुात्मक। जो लिखा जाए, पढ़ा जाए, बोला जाए वह वर्णात्मक नाम है। यही चार प्रकार का है।

i. वैखरी (वाणी का व्यक्त रूप);
ii. मध्यमा (संगीत का चोथा-'सा'; 'रे', 'गा', 'मा');
iii. पश्यन्ती (न।द की वह अवस्था जब कि वह मूला धार से उठकर हृदय में जाता है);

iv. परा (परमार्थ का ज्ञान कराने वाला नाद-ब्रह्म-विद्या) अर्थात् पहला वह जो ज़बान (रसना) से बोला जाता है। दूसरा वह जो कंठ में धीरे-धीरे बोला जाता है। तीसरा वह जो हृदय में मूलाधार से उठकर जाता है। चोथा वह जो योगी-जन नाभि में हिलोर उठाते हुए आज्ञा चक्र में प्रकाश स्वरूप धारण करता है।

परन्तु जो नाम मुक्ति देता है वह इन चारों से परे है। स्वामी जी हजूर महाराज का कहना है कि वर्णात्मक नाम का ज़बान द्वारा जाप करके (नव द्वारों को खाली करके) दसवें द्वार अर्थात् सुषुम्ना नाडी (ब्रह्म नाडी-ब्रह्मरनध्र) में धुन्नात्मक या अनाहद नाद मिलेगा, जिसे अनहद शब्द कहते हैं। वह लिखने पढ़ने में आने वाला विषय नहीं है। वहाँ कोई भाषा, कोई ग्रन्थ, कोई पोथी व पुस्तक नहीं है। वहाँ पर धुन है अथवा धुन्नी है अर्थात् आत्मा व परमात्मा है। इन दोनों का एक करना ही इस मनुष्य जन्म को सफल बनाना है। अर्थात् सूरत को शब्द के साथ जोड़कर एक होना होता है। यही इन ध्वनियों का ध्येय होता है जो सूरत-शब्द अभ्यास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इसी लिए हमारे सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गाविन्द कोल जी महाराज अपने सत्गुरु महाराज दाता दयाल शिव ब्रत लाल जी से प्रार्थना करते हैं :-

"सूरती खसिन आकाशासिय,
दृष्टि दरिन प्यठ गाशसिय।
आर च्यीनय अविनाशसिय,
ज्ञानऽ र'ऽ विय चम्कान दिम।।"

सूरतस तू़ऽ शब्दस म्युल म्य क'ऽर,
सूरत बनावुन म्या'ऽन्य थ्यर।
पनू़ऽऩिस ध्यानसिय अन्दर,
लयी करिथ मन प्राण दिम।।°°

पूर्ण सत्गुरु की यही पहचान हैं कि वे हमारी आत्मा को उस अनहद शब्द के साथ जोड़ देते हैं। जिस किसी को भी पूर्ण सत्गुरु मिल जाता है वह अपने अन्तर में इस दिव्य धुन को सुन सकता है। यह धुन तो सब से पहले छिन्नकार, घण्टा, भ्रमर गुंजार, घने वन की सनसनाहट आदि आवाज़ के रूप में आती है। फ़िर शंख नाद आदि की ध्वनियों के रूप में प्रकट होती है। यह धुन स्थूल मण्डल में सुनाई देती हैं और आत्मा को जड़ संसार से ऊपर उठा कर सूक्ष्म लोक में ले जाती है। ऐसे ही सूक्ष्म लोक कीदिव्य धुनें आत्मा को और भी ऊँचे मण्ड़लों में ले जाती हैं और सारे ब्रह्माण्ड़ में गूँजने वाले गुप्त स्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। यह ऊपर की दिव्य धुनें प्राणों से ही सुनने वालीं धुनें हैं जो प्राणों ही की क्रिया हो कर रहती है। जैसा कि सत्गुरु महाराज के इस भजन से स्पष्ट है।

"तमि आलमुक आलविय ग'व यस कनन।
त'ऽस्य ननन गूव्यन्दू़ऽ छो'पू़ऽ क'र केन्हमू़ऽ वन।।°°

पर्दू़ऽ तुलहय दर्दू़ऽ सी'ऽत्यी सत्गो'ऽ र'ऽव।
राज़ह यूगिय ह्राऽविथिय भा़ऽ विथ ़च्य गव।।
बूज़ प्रण'व सन्तव मुनिय'व अृष्यव।
छुय वज़न रात्र दयन न्यथ कन चू़ऽ थ'व।।°°

य'ऽस्य मुच़रुख तोरय तोर दर'ऽवाज़ये
त'ऽम्य बूज़िय सत्यलूकुक साज़ये।।
प'ऽज़्य पा्ऽठ्य गूव्यन्द्ऽ सुय छुय राज़ये।।°

गुरु के दिए हुए 'शब्द' को ही 'दीक्षा' कहते हैं। यही वर्णात्मक ध्वनि का रूप बन कर रहता है। इसी शब्द के अभ्यास से सहज में ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि अन्तर में ही आत्मा अपना असली घर पा लेता है। अपने अन्दर ही ध्यान के एकाग्र होने पर परमात्मा का पता चल सकता है। परमात्मा जो अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्ण और परम् चेतन सत्ता है, उसको मनुष्य तभी पा सकता है जब वह स्वयं भी उतना ही सूक्ष्म हो जाए। अपनी चेतनता को अपने अन्तर में पूरी तरह से समेट लेने पर ही इतने सूक्ष्म हो सकते हैं और इस धुनात्मक शब्द का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्य किसी शब्द अभ्यासी पूर्ण व कामिल सत्गुरु की सहायता से ही इतने सूक्ष्म हो सकते हैं कि उस परम् तत्त्व परम् चेतन सत्ता परमात्मा में विलीन हो सकते हैं।

4. कारण व कारज शरीरः

ब्रह्म देश में आत्मा जिस अवस्था में जाता है वह कारण शरीर होता है। इसी कारण शरीर के साथ जाते जाते इस पर से ऊपर के सभी खोलों को उत्तार कर अपने स्वच्छ व निर्मल रूप में पहुँचकर कारज शरीर का रूप धारण करता है। वहाँ कारज शरीर से जाकर ही आत्मा को पता लगने लगता है कि इसका असली स्थान क्या है तथा असली घर कोन है। हमारे गुरु

महाराज परम दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी ने इस भजन में यही भाव प्रकटाया है:-

"ज़ीवो कति आख कुस छुय च्योनुय घर्ऽ।
वनतम सू सर्ऽ को'रथा जाँह।।

कति आमुत यि ज़ीव कि'ऽथ्ऽ प्ऽठ्य गोमुत खर्ऽ।
वनतम सू सर्ऽ को'रथा जाँह।।°°

गूव्यन्द्ऽ वुछत्ऽ बा शिन्नहि'ऽकि आगर्ऽ।
आत्म्ऽ ध्यानिय दो'रथा ज़ाँह।।
आश्चर छुख चि'ऽय वुछत्ऽ बा आश्चर्ऽ।।°°

इसी भाव का स्पष्टीकरण संत गुरु नानक साहब महाराज के इस दोहे से होता है:-

"नानक हरिः जसु संगति पाईऐ।
हरिः सहजे सहजि मिलाइये।।"

अर्थात् :- संत गुरु नानक देव जी महाराज कहते हैं कि हरिः भक्तों की संगत पाईये तो सहज से ही हरिः का स्थान ग्रहण होगा।

उनका कथन है कि 'निरञ्जन' के देश से ऊपर चलो, वहाँ पहुँचने पर निर्भय, निर्वैर, निर्द्वन्द्व मालिक का पता लग जाता है। यह सहज समाधी की अवस्था कोई साधारण अवस्था नहीं है। यह किसी सहज-अभ्यासी महात्मा की संगति से प्राप्त होती है। अभ्यास द्वारा ही मनुष्य अन्दर की मंज़िलों को पार करते हुए इस सहज समाधी में पहुँच पाते हैं। यह समाधी त्रिलोकी में नहीं है यह चोथे पद में जाने पर मिलती है। तीन पदों को पार पाना कारण शरीर की क्रया है और चोथे पद की प्राप्ति कारज शरीर की बात है। अर्थात् तीन लोकों तक

स्थूल शरीर होता है और चोथे पद में सूक्ष्म शरीर होता है। यही स्थूल और सूक्ष्म शरीर ही कारण व कारज शरीर – अर्थात् क्रया व प्रक्रिया (cause and effect) होते हैं।

संत गुरु नानक देव जी महाराज का फर्माना है :-

"कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा।
बाजै ताकै अनहद तूरा।।"

अर्थात् :- गुरु नानक देव जी महाराज का कथन है कि जिसे पूर्ण सत्गुरु मिल गया है उसके अन्तर में अनहद शब्द की धुन गुंजती रहती है।

सच्चा साधक जो होता है वह इस दिव्य धुन को केवल सुनता ही नहीं है, अपितु इस चेतन शब्द से शक्ति पाकर इसके द्वारा ऊपरी मण्ड़लों में पहुँच जाता है। यह धुन जो गुरु का असली रूप होता है आत्मा को अन्तिम मंज़िल तक पहुँचा देता है। इसी के बारे में उनका एक और फर्माण है :-

"अखण्ड़ कीरतनु तिनि भोजनु चूरा।
कहु नानकु जिसु सतिगुर पूरा।।"

अर्थात् :- गुरु नानक साहब का फर्माण है कि जिसको पूरा सत्गुरु मिल गया है, उसके लिए अखण्ड़ अर्थात् निरन्तर तथा असीम कीर्तन ही भोजन है। इस असीम तथा अखण्ड़ कीर्तन का संकेत इसी अनहद् शब्द की ओर है जो कारज शरीर की ही उपज होती है। और सदा गूँजने वाली शाश्वत दिव्य धुन ही है। सच्चा गुरु अपने शिष्यों को सूरत-शब्द योग का साधन सिखाता है जिस का लक्ष्य आत्मा को शब्द के साथ जोड़ना होता है और अन्त में इसे परम् पिता परमात्मा में विलीन

करा देना है। यह तो केवल पूर्ण कामिल पहुँचे हुए संत सत्गुरु ही होते हैं जो कारण व कारज शरीर अर्थात् स्थूल व सूक्ष्म शरीर की पहचान कराते हैं।

5. पाँच शब्दों (नामों) का एकीकरण :

इस आध्यात्मिक चेतनता के अन्तिम स्थान अर्थात् सच्चखण्ड़ के मार्ग में पाँच मुख्य मंज़िलें हैं और हर मंज़िल की अपनी अपनी धुन होती है। इस प्रकार सच्च खण्ड़ के मार्ग में भी पाँच शब्द हैं। हालांकि शब्द एक ही है फिर भी भिन्न भिन्न केन्द्रों में इसका अलग-अलग रूप होता है। सच्चा गुरु तो वही होता है जो इन पाँचों शब्दों द्वारा मनुष्य को जीते जी अर्थात् इसी जन्म में अपने निज धाम में ले जा कर इन शब्दों का अभ्यास करा कर इनके समन्वय द्वारा उस वास्तविक शब्द स्वरूप में विलीन कराता है। जब अभ्यास द्वारा सच्चा साधक त्रिलोकी को पार करके चोथे लोक में आता है तभी उसे पता चलता है कि उसका वास्तविक घर कहाँ है और क्या है? वास्तविक घर तो वही है जहाँ उस हस्ती से मिलाप होता है जो सबका मालिक है तथा सच्चिदानन्द है और जहाँ करार व विश्राम पाना होता है। उसी को मालिक कुल की उपाधि दी जाती है और उसी के मौज पर सब कुछ निर्भर होता है। साधक को भी उसी पर रज़्ज़ा रहना होता है। यही भाव परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से स्पष्ट है।

"न्याय यलि अन्दी

अन्द वाती त्यलि ज़ुव्ऽ तोषी।

हा गूव्यन्दो त्यलि कण्ड्यन ति फ्वलनय पोशी।।
हा गूव्यन्दो परमॖ शिवस
लाग लोलॖ पोशी।।°°

पुशॖ रिथ पान रोज़
त्रा'ऽविथ साॖरी हो'ऽश तॖ वो'ऽशी।
त'ऽथ्य मंज़ चॖ खो'ऽश रोज़
यथ मंज़ सु रोज़ी खो'ऽशी।।°°

सत्ॖ व्यत आनन्द सत्गो'ऽर
सु गूव्यन्दुन ज़ुव
शिव पा'ऽन्य पानय
च्यावान अमृत करू नोशी।।°°

जब तक साधक विधिवत (सत्गुरु से बताए हुए विधि के अनुसार) निद्यासन (स्व-आत्म अभ्यास) द्वारा उस वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त न करे जिस में शरणागत भाव की विशेष आवश्यकता तथा स्वाभिमान की त्याग भावना की आवश्यकता होती है तब तक यह सारा रहस्य रहस्य ही रहता है और कहने सुनने की बातें ही होती हैं। जैसे दूध में घी होता है, परन्तु जब तक दूध में से घी निकालते नहीं देखा जाए तब तक कौन मानेगा कि दूध में घी है। यदि किसी के सामने दूध को जमा कर दही बनायें, दही को मथ कर मक्खन निकालें और मक्खन को उबाल कर घी बनायें तो उसे विश्वास हो जाएगा कि दूध के अन्दर अवश्य ही घी होता है यद्यपि प्रकट रूप से दिखाई नहीं देता है। जिस प्रकार दूध, दही मक्खन, घी की चार भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होकर

एक ही होती हैं इसी प्रकार 'नाम' भी पाँच भिन्न प्रकार के होते हुए भी एक में ही समा जाते हैं। यह तो सच्चा सत्गुरु ही होता है जो अभ्यास द्वारा साधक को अन्दर ले जा कर अन्दर के किवाड़ खोल कर (जिसे पिधान की संज्ञा दी जाती है) रख देता है और उसे निरुद्ध अवस्था (जिसे निधान की संज्ञा दी जाती है) में पहुँचा देता है। इसी को शाम्भवी अवस्था अथवा अभेदयमी अवस्था (अर्थात् सदाशिव अवस्था) कहते हैं। इस अवस्था में आकर साधक तीन तापों - आध्यात्मिक, अधिदैविक तथा आधिभौतिक संतापों से मुक्त होकर रहता है। जिस प्रकार सूर्य अपने से उत्पन्न की हुई गर्मी को अपने से ही उत्पन्न की हुई वृष्टि से शान्त करने में समर्थ होता है इसी प्रकार सत्गुरु कृपा से साधक योग अभ्यास द्वारा शाम्भवी (सदाशिव) अवस्था प्राप्त करके तीनों तापों को शांत करने में समर्थ होता है। (इसी को समाधान की संज्ञा दी जाती है) यही इच्छा, ज्ञान, क्रिया, पिधान, समाधान व निधान होता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए सत्गुरु से दीक्षा, जो जीवों को पार ले जाने वाला जहाज़ है, पाकर साधक को निद्यासन की आवश्यकता होती है। निद्यासन अर्थात् आत्म-ध्यान (Meditation on Atman) से माया रूपी पर्दा हट जाता है। उस को सच्चा मार्ग प्राप्त होकर वास्तविकता का पता चलता है और नर-शरीर धारण करने का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त होता है।

इसी को सत्गुरु परम दयाल स्वामी गाविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से स्पष्टता मिलती है :-

"आत्मऽ ध्यान दार धारणाये
वासनाये चठतो।।°°

सत्गो'ऽर छुम च्योन साये,
सख यि मूहनी लठतो।
वीर'ऽव तिप्वर त्राहि त्राहे।।°°

खुदी हुन्द पर्दऽ छाये,
थ्वद तुल जठ पठ तो।
दय वुछ्ख अद्ऽ जायि जाये।।°°

समा'ऽधी व्यथान्ऽ आये,
सन्थव क्वर न्ऽ हठतो।
छोंड युस सु असी द्राये।।°°

वोत कान्ह गो'ऽर्ऽ कृपाये,
नत्ऽ वीरन ति नठतो।
शिव खो'श ओ३म पूज़ाये।।°°

गूब्यन्द्ऽ यमि उपाये,
म्वकलि दिनि लठ लठतो।
पर स्वर ब्रह्म विद्याये।।°°

इस प्रकार पाँच नामों का एकीकरन करके आत्म-स्वरूप निष्ठ बनकर रहना ही परम् पूज्य सतगुरु महाराज ने इसका उपाय दर्शाया है, जैसा कि अन्तिम पद से सप्ष्ट है।

6. मायातीत की परिभाषा :

माया का पर्दा हटते ही दिव्य ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से सुनने में आती हैं। यह सब कुछ अपनी अपनी वासना

के आधार पर होता है। ज्यों ज्यों यह वासना का भ्रम मिटता जाता है त्यों त्यों इन ध्वनियों का प्रकटी करण होता है। 'माया' दर्शनीय तथा श्रुति वस्तुओं का नाम है। जो कुछ भी बाह्य अथवा आन्तरिक दृष्य देखने और ध्वनियाँ सुनने में आती हैं यह सब माया का ही खेल तमाशा होता है। इसी को भ्रम अथवा भ्राँति की संज्ञा दी जाती है। इन भिन्न भिन्न प्रकार की मायावी रंगों, ध्वनियों तथा आकारों का साक्षात्कार होते हुए भी साधक इन में आसक्त नहीं रहता है। अष्ट सिद्धियों, नव निघयों को प्राप्त करके भी साधक उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। केवल असली घर में रमा रहता है। जैसे महात्मा बुद्ध, हज़रत ईस्सा, हज़रत मुस्सा, दत्तात्री मुनि, राजा भर्त्तहरी, वाल्मिकी अृषि, संत तुलसी, मन्सूर आदि ने निद्यासन द्वारा ही माया तथा मन को जीत लिया था और वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करके रह गये थे। इस प्रकार सच्चे साधक को मायातीत बनने की परम् आवश्यकता है। जैसा कि परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से स्पष्ट है:-

"दज़न ज़न छि दीपई
ग्रज़न ज़न स'दुर।
वज़न बीन्ऽ बाजे मधुर सूत्ऽ सू।।°°

छु गाशी सु गाशी सफेदई सफेद।
छु शोलान चन्द्रम वो'ऽधुर सू त्ऽ सू।।°°

यि वुछनस अन्दर बोज़नस मंज़ यिवान।
ति सोरुय हतो ज़ान ओ'ऽदुर सू त्ऽ सू।।°°

अप'ऽज़्य प'ऽज़्य सम्सकार यमिस ज़ीवसिय।
ज़जुर छिस च़ानान दो'ऽदुर सू तृऽ सू।।°°

सतहकुय च़्यतहकुय आनन्दकुय।
चि़'ये छुख गूव्यन्दों सो'ऽदुर सू तृऽ सू।।°°

दूसरे एक और भजन में उनकी अमृत वाणी इस प्रकार है :-

"सत् च़्यत् आनन्द आ'ऽखण्ड अगाधिय।
यादिय करु पानह पनृऽनुय स्वरूप।।°°

क'ऽर हर सातय दृष्यकुय अत्यन्त अभाव।
प्राव सहज़ृऽ भाव पान प्रज़ृऽ नाव।।
त्राव दिहि अद्यास छ'ऽय ब'ऽड़ व्याधिय।।°°

च़्यत ईकाग्र कर या गछ़ स्थिर।
सा'ऽक्षी निर्विकार चूऽ च़्यन्मातर।
यिहय दृढ़ निश्चय छि परमृऽ समाधिय।।°°

दमृऽ दमृऽ दमनिय सी'ऽत्यन दमसा'ऽ।
भ्रम च़लिथ पथ सूहम हम सा'ऽ।
खसि वसि दम करान यो'ऽहय सम्वादिय।।°°

वीद छिय ग्यवान गूव्यन्द गीथिय।
मन पनुन जीति'ऽय गुणा तीति'ऽय।।
सरस्वति माऽजि च़्य को'ऽरनय प्रसादिय।।°°

यही बात स्वामी लक्षमण जी राज़दान "बुल बुल नागामी" के इस भजन में देखने को मिलता है :-

"लालो लालो बालृऽ गूपालो।
कर'ऽयो च़्य कि'ऽज़्य पोशन मालो।।°°

ह्यस्ऽ व्यस्ऽरा'ऽ विस मायायि मसनिय।
रस्ऽ रस्ऽ रस्ऽ विषय रसनिय।।
छुम मटि खोऽ'तमुत मुह झँझालो।।ॱॱ

मायातीतो छ़ायि मत्ऽ रोज़तम्।
च़राच़र छुख आ'ऽरच़र म्य बोज़तम।।
कोन्छ़ा सोज़तम दीन्ऽ दयालो।।ॱॱ

च़्यत् आकाशस भास्कर म्य भास्तम।
ज़ूनि प्रकाशुक सिर्य्ऽ ज़न आस्तम।।
अनि गट्ऽ कास्तम रटथो नालो।।ॱॱ

परमानन्दो नन्द्ऽ आनन्दो।
लक्ष्मण जुव ने श्री रामानन्दो।।
सीता सी'ऽत्य छय ना'ऽली नालो।।ॱॱ

लालो लालो त्रिजगत पालो।।ॱॱ
कर'ऽयो च़्य कि'ऽच़्य पोशन मालो।।ॱॱ

इस प्रकार माया तीत बनकर ही मनुष्य अभीष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

7. समाधी अवस्था तथा आत्म बोध के आवश्यक अंग :-

आत्म बोध के लिए समाधी अवस्था का प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है। वैसे तो इसके लिए अभ्यास, उपासना, सत्गुरु श्रद्धा, ज्ञानोपार्जन आदि का होना अनिवार्य हैं। परन्तु समाधी अवस्था की प्राप्ति, आत्म-बोध की प्राप्ति तथा वास्तविक उपासना के लिए इन छः अवयवों अर्थात् अंगो का होना अनिवार्य हैं :-

(क) मौन साधना : मौन साधना द्वारा शक्ति का संचार होता है जिस से ओज शक्ति बड़ जाती है और साधक अनथक विचार-मग्न होकर समाधिस्थ अवस्था का लाभ प्राप्त करता है। इस में मित भाषी होना भी व्यवहारी जीवात्मा के लिए बहुत कुछ कर सकता है। व्यर्थ के वाद विवाद में समय तथा ओज-शक्ति नष्ट करना बहुत ही हानिकारक सिद्ध होता है। अतः स्वरूप-निष्ठ बनने के लिए तथा निर्विकल्प समाधी के लिए मित भाषी होना बहुत ही आवश्यक होता है।

(ख) हल्का आहार : प्रमाद से बचने के लिए हल्के आहार का होना अनिवार्य होता है। दूध व फल भी हल्के आहार के अन्तर्गत आता है। इसके साथ ही तामसिक भोजन के सेवन करने से मान्सिक विह्लता बड़ जाती है, जो समाधी अवस्था प्राप्त करने में बाधक सिद्ध होते हैं।

(ग) एकान्त वास : मन की स्थिरता के लिए कम से कम एक-आध घन्टे के लिए एकान्त वास का होना भी अनिवार्य है। इसी लिए प्रत्येक गृहस्थी में पूजा के कमरे का अथवा ईबादत के कमरे का प्रबन्ध होता है। इससे मानव कुछ क्षणों के लिए घर के हलचल से बच कर रहता है और मन की शान्ति का माहोल बनता है।

(घ) सत्गुरु का घनिष्ठ सम्बन्ध : ज्ञान उपार्जन के लिए, सत्गुरु का कृपा पात्र बनने के लिए तथा कीर्तन सत्संग आदि के लिए सत्गुरु के साथ मेल मिलाप आवश्यक होता है। इस के साथ ही साथ नर-रूपी सत्गुरु का स्वरूप नारायणी सत्गुरु स्वरूप का आभास

सुदृढ़ बनने के लिए सत्गुरु का घनिष्ठ सम्बन्ध अनिवार्य होता है।

(ङ) सदाचार : सद् व्यवहार द्वारा हर ओर से प्रेम की छट्टा, अद्वयत भाव, परोपकार का भाव, और सत्य का आचरण ही सदाचार होता है। इसके लिए सहनशीलता तथा सद्भावना बहुत ही अनिवार्य होता है। जिस से वातावरण स्वतः सिद्ध ही उपासना के अनुकूल बन सकता है और साधक को समाधी अवस्था में शक्ति मिलती है।

(च) प्राणायाम : श्वास उश्वास पर नियंत्रण तथा नाड़ियों की शुद्धि और मन के सन्तुलन को बनाये रखने के लिए प्राणायाम भी अनिवार्य होता है।

इस प्रकार यह ऐसे छः महत्वपूर्ण अंग हैं जो जीवन को सच्चे मार्ग पर लाकर मनुष्य के लिए आध्यात्मिक मार्ग सुगम, सरल, तथा सार-पूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

8. प्राणायाम की विधि तथा महत्व पर संक्षिप्त विवरण :-

यहाँ पर प्राणायाम तथा उसके विधि विधान पर थोड़ा सा प्रकाश ड़ालना भी अनिवार्य है।

प्राण तो मन का आवरण अर्थात् पोशाक होता है। मन की विक्षिप्तता को कुछ हद तक दूर करने के लिए प्राणायाम भी एक साधन है। जिस प्रकार शरीर की सुन्दरता तथा रक्षा के लिए वस्त्र (पोशक) की आवश्यकता होती है इसी प्रकार मन की पुष्टि के लिए प्राणायाम की आवश्यकता होती है। यद्यपि सत्गुरु की कृपा दृष्टि के

बिना यह सब कुछ लुभाने वाली बातें हैं, फिर भी प्राणायाम द्वारा उपासना में समृद्धि होती है। प्राणों को सदा ही ईश्वरीय भाव की ओर लगाना होता है जो प्राणायाम से सहज सा प्रतीत होने लगता है। मन के रमाणे के लिए, क्रम तथा नियम स्थापित करने के लिए और संकल्प-विकल्प को दूर रखने के लिए प्राणायाम विशेष कार्य निभाता है। प्राणायाम की कई प्रक्रियाएँ हैं - जैसे वायु को बाहिर निकाल कर बाहिर रोकना, अन्दर भर कर अन्दर रोकना, बाहिर जाने तथा अन्दर आने की इन दोनों गतियों को रोक कर प्राण अपान को स्थिर करना अथवा समगति से चलाना होता है। इस प्रकार प्राणायाम के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं :-

1. **प्राण :** इसे उत्तरायन अथवा देवयान कहा जाता है। मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु ऊपर जाता है उसे प्राण कहते हैं। अँगूठे से दाहिना नथना बन्द करके बाएँ नथने से धीरे-धीरे वायु को ऊपर खींचे। इसको 'पूरक' की संज्ञा दी जाती है। (बाह्य वायेरन्तः प्रवेशन पूरकः)।

2. **अपान :** इसे दक्षिणायन अथवा पितृयान कहा जाता है। मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु नीचे की ओर जाता है वह अपान कहलाता है। अनामिका से बाएँ नथुने को बन्द करके दायें नथने से वायु को धीरे-धीरे बाहिर निकालें। इसे रीचक की संज्ञा दी जाती है। (अन्तः वायुर्बहिर्निसारणं रेचकः)।

3. **कुंभक :** प्राणायाम की बीच की प्रक्रिया 'कुंभक' कहलाती है। सांस का रोकना कुंभक होता है। जितनी

देर सहज रूप से हो सके सांस को ऊपर रोकना होता है। अंगूठे और अनामिका से दोनों नथने बन्द करके वायू को रोकें। (प्रवेशितस्य धारण कुम्भः)। इस से मन शान्त बनता है। मन की एकाग्रता तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिए प्राणायाम का भी बहुत कुछ योगदान होता है। इसका अभ्यास सुयोग्य गुरु से सीखना होता है। यह मात्रिका तथा मालिनि का काम भी निभाता है। हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी ने इस का वर्णन अपने भजन द्वारा इस प्रकार किया है:-

"सत् चित् आनन्द गूव्यन्द गू।
प्राण छिय करान सू हम सू।।°°

प्राण-अपान यलि मेलि मंज़सिय छु हर।
मन गछ़ि पानय ईकागर।।
सोरुय छू पानय शिवुऽ शम्भू।।°°

प्राण ग'व ज़ीव तय अपान ईश्वर।
दो'ऽशवि'ऽन्य कुन कर रोज़ अज़र।।
ब्रह्म मय छु सोरुय ज़ीव छुय कू।।°°

स्वप्रकाशुऽ दो'ऽहस करतुऽ करार।
अविद्यायि रा'ऽछ़िय रोज़ हुशियार।।
प्यठ ब्रह्माण्ड़स छुय वज़ान हू।।°°

पर तुऽ पान कुन व्यन्द कर दूर दुय।।
गूव्यन्दुऽ वीदव गययो'ऽवमुत छुय।।
गूव्यन्दुऽ स्वरतो गूव्यन्दुऽ गू।।°°

इसी प्रकार दूसरे एक और भजन में इसका विवरण इस प्रकार हैं:-

"सतो'र ज़्वलमय सुलि वुज़्ना'ऽ विथ।
मस गोम च्या'ऽविथ खो'ऽत खुमार।।°°

तन मन थाव्याम जान पा'ऽठ्य ना'ऽविथ।
पूरक कुम्भक बारम्बार।।
यछ़ि पछ़ि भाव्ऽ जाम्ऽ रूद्य पा'ऽ
रा'ऽविथ।।°°

वार्ऽ गूब्यन्द्ऽ ह्यक्त्ऽ पान प्रज़्ना'ऽविथ।
प्रज़्ऽनाव तोर नो बो'ऽज़्य रफ्तार।।
न्यश्ऽ वय तापिय रूद्य शेहल्ाऽविथ।।°°

अब यहाँ पर प्राणायाम की आरम्भिक विधि तथा महत्त्व पर प्रकाश ड़ालना आवश्यक है। ध्यान धारणा से पूर्व पद्मासन में बैठकर इक्कीस बार रीचक, कुम्भक और पूरक का इधर से उधर तथा उधर से इधर अर्ध प्रकरम चक्र पूर्ण होने पर नासिका दृष्टि द्वारा 'सूरत' सुष्मणा मार्ग से अग्रसर होने लगती है। इस से तान्दरी अवस्था अर्थात् आलस्य दूर हो जाता है और विचारधारा स्थिर होने लगती है। इसी से मन कभी विचलित नहीं होता है। इसी प्राण-अपान की गति पर ही सफलता-असफलता, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ आदि ज्ञात करने का भाव निर्भर होता है। प्राणों का सदा ही ईश्वरीय भाव की ओर लगाने से सदा शुभ ही होता है। जिस प्रकार लीमूँ का पानी यदि शीशे के बर्तन अथवा सोने के बर्तन में रखा जाए तो वह कभी भी बिगड़ता नहीं है। परन्तु यदि पीतल के बर्तन में रखा जाए तो वद शीघ्र ही बिगड़ जाता है यहाँ तक कि ज़हरीला भी बन सकता है। ठीक इसी प्रकार प्राणों में यदि शुद्ध

भाव हों तो मन शुद्ध रहता है। विचारों की शुद्धता पर ही मन की शुद्धता निर्भर होती है जिस का आधार प्राणायाम होता है। आसन तथा मुद्रायें शरीर को सुदृढ़ बनाते हैं और प्राणायाम शरीर को हल्का और नाड़ियों को निर्मल, शुद्ध व स्वच्छ बनाता है। नाड़ि शुद्धि से मन की साम्य अवस्था बनती है और साधक ध्यान मग्न रह कर ब्रह्म निष्ठ हो जाता है। इसी से वह सदा आनन्द मग्न रहता है और सहज ही में संकल्प वैराग्य प्राप्त करता है। (ब्रह्मभूः भुवः सरूम्)। प्राणायाम द्वारा श्वास उश्वास की गति सम बनती है जिस से 'सोऽहम' ध्वनि का प्रकटीकरण होता है। एक रूपता वृत्ति का प्रवाह होता है जिस से आत्म-निरूपण होने लगता है अर्थात् आत्मा की पहचान होने लगती है। इसी को ब्रह्मात्म साक्षात्कार की उपाधि दी जा सकती है। 'आत्मा' जिसे 'परम तत्त्व' 'अनन्त शाक्ति' अथवा 'परा शक्ति' की संज्ञा भी दी जाती है सभी शक्तियों का भण्ड़ार होता है। मन इसी आत्मा का अस्त्र शस्त्र (Instrument) है जिसके द्वारा शक्ति प्रकटाई जाती है। इसी पर सभी वैज्ञानिक-चमत्कार अथवा योगिक-चमत्कार आधारित होते हैं। अभ्यास द्वारा मन को नियन्त्रित किया जा सकता है। इस अभ्यास की सीढ़ी प्राणायाम है। जिस प्रकार व्यायाम द्वारा शरीर स्वस्थ रखा जा सकता है उसी प्रकार मन को मानसिक क्रिया जैसे प्राणायाम, ध्यान, धारणा, मनन, निद्यासन आदि से स्वस्थ बनाया जा सकता है। इस के लिए गुरु-मन्त्र मानो कमान है, मन तीर और लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार है, जिसको निशाना

बनाना होता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इस के लिए प्राणायाम मार्ग दर्शक का काम करता है। लक्ष्य की प्राप्ति पर अर्थात् स्वरूपनिष्ठ बनकर यह प्राणायाम आदि केवल साधन मात्र ही बनकर रहते हैं।

9. मन तथा अहम् का सम्बन्ध :

इस ब्रह्मात्म साक्षात्कार के मुख्य कारण हैं 'मन' तथा 'अंह'। 'मन' तथा 'अहं' एक दूसरे से अन्तर-सम्बन्धित अवयव है। जब 'अहं' लुप्त होता तभी मन भी लुप्त होता है। जब मन वश में होता है, तभी 'अंह' अस्तित्व खो बैठता है। 'मन' को तत्त्व ज्ञान से वश में किया जाता है, जिसका वर्णन पहले ही किया गया है, और 'अंह' को 'अहं ब्रह्मोस्मि' भाव से लुप्त किया जाता है। जब मन का लोप होता है अर्थात् विचार समाप्त होते हैं तभी नाम-रूप का पर्दा हट जाता है और लक्ष्य की प्राप्ति होती है। लक्ष्य पूर्ति का आधार यही 'मन' और 'अंह होता है। "मनमहः" तथा "मत्प्रहः" इसी भाव को प्रकटाता है और निरन्तर इश्वरी ध्यान की ओर संकेत करता है। आत्म साक्षात्कार (self-realization) तभी सम्भव हो सकता है जब यह दोनों हाथ लगते हैं और इनकी वास्तविक पहचान होती है। यही भाव श्रीमद् भगवत् गीता के इस श्लोक से प्रकट होता है :-

"मन्म[1]नाः भव मद्भक्तो
मद्य[2]जी मां नमस्कुरु।
माम् एव ए[3]यसि युक्तैवम्

आत्मनं म[4]त्परायणः।।"

मेरे में अचल मन[1] मेरी पूजा करने वाला[2] प्राप्त होगा[3] मेरे में एकी भाव[4]

अर्थात् : हे अर्जुन : तू केवल मुझ सच्यिदानन्दघन परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य निरन्तर अचल मन वाला बन, मुझ परमेश्वर को ही श्रद्धा-भक्ति पूर्वक निष्काम भाव से निर्मम (निर्अहम्) होकर भजने वाला बन। अर्थात् मन, वाणी, तथा शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके श्रद्धा, प्रेम और भक्ति से पूजन करने वाला बन तथा मुझ सर्व-शक्तिमान आश्रय रूप वासुदेव को भक्ति सहित साष्टांग दण्ड़वत् प्रणाम कर। ऐसा करने से तू आत्मा को मेरे में एकी भाव करके मेरे को ही प्राप्त होवेगा। यह मैं तुझ से सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।

इस प्रकार यह समस्त आन्तरिक तथा बाह्य ध्वनियाँ निश्चय को दृढ़ बनाने मात्र हैं जिस से जीव 'मन' तथा 'अहं' का वैराग्य पाकर वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति स्थापित करती है और उसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा के साथ एकीकरण की प्राप्ति होती है।

10. वास्तविक सुखी होने का तात्पर्य :-

जब संसार के वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तो स्पष्ट रूप से देखने में आता है कि इस संसार के पीछे लगने से कुछ भी हाथ नहीं लगता है, न लगने वाला होता है, केवल आत्मा को शब्द के साथ जोड़ने से वास्तविकता का पता चलता है और जन्म मरण का बन्धन छूट जाता है। जिस प्रकार आग की चिंगारी

लकड़ी के एक बड़े भारी ढ़ेर को जला ड़ालती है इसी प्रकार 'नाम' की थोडी-सी कमाई से पापों के भारी ढ़ेर नष्ट हो जाते हैं। यह संसार जो दुःखों का घर है इसके पीछे लगने से दुःख के सिवा कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जो हमें भोग विलास-ऐश व आराम की ज़िन्दगी प्रतीत होती है वह वास्तव में दुःख के बिना कुछ भी नहीं है। इन्द्रियों के सुख भी अपने साथ बीमारियाँ आदि लाते हैं और अन्ति समय पर दुःख दायी सिद्ध होते हैं। हमारी आत्मा मन के अधीन होती है, मन इन्द्रियों के अधीन और इन्द्रियाँ भोगों के अधीन हैं। जो ज़्यादा भोगों के भोगने में लग जाते हैं उनके बारे में कहा गया है :-

"बहु सादहु दुख परापति होवै।
भोगहु रोग सु अंति बिगोवै।।

अर्थात् :- बहुत स्वादों में डूबने से दुःख होता है और अन्ति समय को दुःख दायी बन कर रहते हैं। जिसे जन्म मरण का बन्धन कदापि मिट नहीं सकता है। जबकि जन्म-मरण के बन्धन से छूटना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य होता है। संत नानक देव जी साहब का भी यही कथन है:-

"नानक दुःखिया सब संसार।।
सो सुखिया जो नाम आधार।।"

अर्थात् :- इस संसार में सभी प्राणी दुःखी हैं एक एक प्रकार के रंग से तो दूसरा दूसरे प्रकार के रंग से। केवल मालिक के भक्त ही जो 'नाम' का सहारा लिए हुए हैं वही सुखी हैं।

इसी बात को राजिस्थान की एक प्रसिद्ध सन्त

कवयित्री सहजो बाई कह गई हैं :-

"धनवंते दुःखी सभी।
निर्धन दुःख का रूप।
साधु सुखी सहजो कहे,
पाया भेद अनूप।।"

अर्थात् :- सब धनवानों और अमीरों को दुःखी दशा और पीड़ा में कराहते हुए पाया, गरीब तो खुद ही पीड़ा और दुःखों के रूप हैं ही। सुखी तो केवल ईश्वर भक्त ही हैं जिन्होंने परमात्मा से नाता जोड़ लिया होता है।

ऐसा तो सत्य ही है क्योंकि यदि धन दौलत से सुख शान्ति प्राप्त होती तो करोड़ों अरबों की दौलत का स्वामी रौकफ़ेलर अपने कारखाने के एक मज़दूर जो पीठ पर बोझ लादे हुए जा रहा था को देख कर ऐसा नहीं कहता कि कोई मेरा सब धन धौलत ले लेता और इस गरीब आदमी की तन्दरूस्ती मुझे दिलवा देता। इस प्रकार यदि मनुष्य इन संसार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए उपासना में संलग्न रहना अनिवार्य है। उपासना रत्त होने से ही मनुष्य को आत्म-ज्ञान का बोध होता है जिस से मनुष्य सम-शान्ति रस का पान करता है और सत् चित् आनन्द प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करता है। भक्त साधक सगुण ध्यान धारणा से, हठ योगी षट्-चक्रों की ध्यान धारणा से और ज्ञान योगी ब्रह्मात्म स्वरूप की ध्यान धारणा से उपासना करता है। जैसे कृष्ण भक्त को कृष्ण-कृष्ण ही हर ओर से दिखाई देता है, राम भक्त साधक को राम ही राम तथा शिव भक्त को शिव ही शिव कण-कण में व्याप्त दिखाई देता है।

इसी का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार है:-**"वासुदेवम् सर्वम् इति!"** हठ योगी षट् चक्रों के पीछे लग कर सदा ही ध्वनियों, वर्णों, रंगों, अवस्थाओं आदि में ही लीन रहते हैं। ज्ञान योगी अर्थात् वेदान्ती को अपना आत्मा ही हर ओर से दिखाई देता है। उसकी दृष्टि से नाम-रूप का पर्दा ही हट जाता है। उसे हर ओर से ब्रह्म ही ब्रह्म दीख पड़ता है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना के लक्ष्ण इन नामों से प्रकट होतें हैं :-

"सर्वं खलविदं ब्रह्म!",
"ओ३म!" "सो३हम!"
"शिवो३हम!" "अहम् ब्रह्मोस्मि,"
"तत् त्वम् असि!", आदि।

जब निरन्तर उपासना से अहम् का भाव मिट जाता है तभी आत्मा की पहचान होती है और ब्रह्मात्म साक्षात्कार हो जाता है। सभी कर्मों का बन्धन छूट जाता है तथा आवागमन के चक्र से मुक्ति प्राप्त होती है। जिनकी ऐसी अवस्था बनती है वही वास्तविक सुखी कहलाते हैं।

11. जीवन मुक्ति की सहज व्याख्या :-

एक अभ्यासी हर रोज़ अभ्यास द्वारा सूरत को तीसरे तिल से निकाल कर दिव्य धुन में विलीन करता है। इस प्रकार वह सदा ही देह अवसान से मुक्त होकर देह से विदेह होता है। एक मरने वाले जीव की अवस्था मृत्यु के समय ऐसी ही होती है कि वह देह से विदेह हो जाता है जो उसके लिए कष्ट प्रद ही होता है। परन्तु एक अभ्यासी के लिए इस में आनन्द ही आनन्द प्राप्त

होता है। इस प्रकार अभ्यासी जीवित ही मरता है और इसी को "जीवित मरना" कहते हैं। यह सब 'नाम' जाप का ही प्रभाव होता है। इसी को 'जीवन मुक्ति' की संज्ञा दी जाती है। संत कबीर दास जी महाराज इसी के बारे में कहते हैं :-

"आदि नाम पारस अहै
मन है मैला लोह।
परसत ही कञ्चन भया
छूटा बन्धन मोह।।"

अर्थात् :- सत्गुरु 'शब्द' पारस मणि के समान है और मन लोहे के समान है। जिस प्रकार पारस मणि के छूने मात्र से ही लोहा सोना बनता है उसी प्रकार सत्गुरु नाम स्मरण मात्र से ही मन स्थिर, निश्चल, निर्लिप्त तथा सच्चिदानन्द घन रूपी सोना बनता है और सांसारिक मोह माया के बन्धन से छूट जाता है।

मन पर बहुत कुछ निर्भर होता है। एक बार वसिष्ठ मुनीश्वर जी महाराज मन की विशेषता के सम्बन्ध में श्री रामचन्द्र जी महाराज से कह उठते हैं कि, "यदि कोई कहे कि उसने हज़ारों मील का लम्बा सफर पैदल तय किया अथवा कई हज़ारों फीट ऊँचा पर्वत अथवा लम्बा समुद्र लाँघ कर पार किया अथवा कई हज़ार टन भारी पर्वत हाथों पर उठा लिया अथवा किसी गहरे समुद्र के पानी को एक ही घूँट में पी लिया यद्यपि यह असम्भव सी बात है फिर भी मैं मान सकता हूँ कि शायद संसार में परमात्मा ने कोई ऐसा मनुष्य भेजा होगा जो ऐसा कर सकता हो। जैसे हनुमान जी,

अगस्त मुनि आदि, परन्तु यदि कोई कहे कि उसने मन को वश में कर लिया है तो मैं ऐसा मानने के लिए कदापि तैय्यार नहीं हो सकता। मन ऐसा बलिष्ठ है कि "बड़े बड़े महात्माओं आदि से भी मन वश में नहीं हो सका है"। मन का हाथ लगना देह धारियों के लिए बहुत ही कठिन होता है। फिर भी निराशा-वादी बनने की बात नहीं है। यदि पूर्ण व कामिल सत्गुरु मिल जाये, उसे दीक्षा ले कर जीव कमाई करके अन्दर जाये तो तुरिया पद में सत्गुरु का नूरी स्वरूप मिल जाए तो उसी में रम कर मन नर्विकल्प अवस्था ग्रहण कर सकता है। उसी के सहारे तुरिया तीत अवस्था में अथवा सहस्रदल में अमृतसर का कमल रूपी कुण्ड़ के अमृत का पान करने पर ही मन वश में आ जाता है और आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

यह मन एक ऐसा भावात्मक सूक्ष्माति सूक्ष्म यन्त्र है जो सभी कर्म इन्द्रियों तथा ज्ञान इन्द्रियों का संचालक है। अर्थात् एक ओर मन इन्द्रियों का नियंत्रण करने वाला है तो दूसरी ओर यह आत्मा का संरक्षक है (रक्षा करने वाला है)। अतः मन को नियंत्रण में लाने से मनुष्य शक्तिशाली बनता है और उसे आत्म बोध भी हो जाता है। मन तो आत्म बोध तक मनुष्य का साथ देता है और ब्रह्म आकार वृत्ति प्राप्त होने तक जीव का सहायक होता है। जिसके प्राप्त होते ही जीव विमन बनता है। वह ब्रह्म में विलीन होकर एक-रस बनकर रह जाता है। उस का जन्म सफल हो जाता है जो मनुष्य-जन्म का वास्तविक तथा अभीष्ठ लक्ष्य है। मन की स्थिरता पर ही यह सब कुछ निर्भर होता है जिसकी

कुंजी सत्गुरु की कृपा दृष्टि ही है। सत्गुरु के बताए हुए मंत्र के जाप पर मन की स्थिरता आधारित है। 'चैतन्य धारा' जिसको चिन्तन शक्ति अथवा 'सूरत' भी कहते हैं तभी उल्ट कर निज धाम की ओर अग्रसर होने लगती है जब मन स्थिर हो जाता है। अतः मन को अस्थिरता से स्थिरता की ओर लाने का प्रयास करना परम् आवश्यक है। यह तो जोश में होश रखने वाला भाव है क्योंकि मन का स्वभाव ही ऐसा होता है कि यह सदा ही चंचल रहता है और जोश में होश खो बैठता है। जिस से एकाग्रता भंग होती है। जब मन की विह्वल दशा दूर होती है तो एक-रस निष्ठता बन्धती है और एक रस निष्ठ बनने से हर प्रकार की बाधा दूर होती है और उपासना में सिध्दि प्राप्त होती है। निष्ठावान पुरषों से ही सब कुछ बन सकता है।

एक रस निष्ठा से एकाग्रता बनती है जिस से ध्यान योग बनता है जो अघोर तपस्या से भी बढ़ चढ़ कर है। ध्यान-योग की प्रक्रिया प्रत्याहार, जिस में कर्म इन्द्रियों तथा ज्ञान इन्द्रियों का दमन सम्मिलित है, जल में कमल के समान बनने का कार्य करता है। नासिका दृष्टि से दिव्य-गन्ध का अनुभव होता है और भ्रूमध्य दृष्टि से दिव्य-ज्योति का अनुभव होता है। इस से योगी का विश्वास दृढ़ बनता है। परन्तु साधक को इसी पर ठहरना नहीं होता है। जैसे कि शिव उपासक प्रायः इसी स्थिति पर करार करता है। वास्तव में इसके आगे भी बहुत कुछ होता है जिसकी प्राप्ति बहुत कम संत साधकों को ही होती है। सात्विक विचारों को ईश्वरीय विचार धारा में परिवर्तित करके अपने अन्तः करण को

शुद्ध बनाना कोई सरल कार्य नहीं होता है। इसके लिए सब्र, सहनशक्ति, उद्योग, दृढ़ निश्चय, वैराग्य भावना आदि की आवश्यकता है। इनसे ही निर्विकल्प समाधी प्राप्त होती है। ईश्वरीय सत्ता का संयोग तभी बनता है जब पूर्ण रूप से संकल्प-वैराग्य प्राप्त होता है, भीतरी तथा बाहिरी संस्कार लुप्त हो जाते हैं। अर्थात् रंग, ध्वनियों आदि की ओर से ध्यान हट जाता है और साधक मन से विमन और चित्त से अचित्त हो जाता है। इस प्रकार सहस्रदल रूपी अमृत सर का कमल खिल उठता है और साधक आनन्द विभोर हो जाता है। इस से परे का अवर्णनीय अगम, अलख, असीम, अपार आनन्द स्वरूप 'राधा-स्वामी' स्वरूप प्राप्त करना होता है। इसी से वास्तविक करार प्राप्त होता है और साधक अजपा जाप का आनन्द भोगता है।

जिस प्रकार अन्धेरी कोठरी में एक मटके में बन्द रोशनी से मटके को तोड़ने पर चारों ओर रोशनी प्रकट होती है ठीक इसी प्रकार माया अथवा अज्ञान का पर्दा हटाने पर चारों ओर आत्म प्रकाश झलकने लगता है। संत कबीर दास जी महाराज का प्रस्तुत दोहा इसी भाव की व्याख्या करता है :-

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल
बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ मेटा कुम्भ
जल जल में ही समानी।।"

अर्थात् :- जब जल से भरा हुआ मटका समुद्र के जल में रखते हैं तो समुद्र के जल और मटके के अन्दर के जल में पृथ्कता होती है। मटके के टूटने पर ही मटके

का जल समुद्र के जल में समा जाता है और उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती है। ठीक इसी प्रकार गुप्त रोशनी से माया रूपी पर्दा हटाने से आत्म प्रकाश प्रकट होता है और परमात्म प्रकाश में विल्लीन होता है। इसी पर्दे को अविद्या और इसके प्रभाव को देह अद्यास कहा जाता है। इसके मिटते ही ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। निरन्तर उपासना से देह अद्यास मिट जाता है जिसके मिटने पर आत्मा परमात्मा में समा जाता है। इसी का नाम 'बिन्दु-सिन्धु' रखा गया है।

जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि, महंदी में लाली, चन्दन में सुगन्धि, हिरण की नाभि में नाफा, बर्फ में जल तथा बीज में फल और फल में बीज छुपा हुआ होता है, इसी प्रकार मनुष्य के अन्तः करण में दिव्य रोशनी छुपी हुई होती है। जब तक लकड़ी को जलाया न जाये आग प्रकट नहीं हो सकता, महंदी को हल करके मल नहीं लिया जाये लालिमा प्रकट नहीं हो सकती, चन्दन को बिना घिसे और हिरण की नाभि से नाफा निकाले बिना सुगन्धि प्रकट नहीं हो सकती और बीज को बिना बोये फल नहीं निकलता है। इसी प्रकार जब तक निरन्तर अभ्यास व उपासना द्वारा अन्तः करण शुद्ध न किया जाए तब तक इश्वरी सत्ता का प्रकटाना और उसी में समा जाना सम्भव ही नहीं हो सकता है। जब गहरे मनन, ध्यान, निद्यासन, उपासना आदि से अन्तर-आत्मा में साधक लय हो जाता है तभी निर्विकल्प समाधी लग जाती है और आत्म बोध हो जाता है। साधक चित्त से अचित, देह से विदेह, मन से विमन बन जाता है और आत्मा तथा परमात्मा अभिन्न

बन जाते हैं। इसी का नाम जीवन मुक्ति है। यह सारा भाव परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल महाराज के इन भजनों से स्पष्ट हो जाता है :-

(क) "दय नो दूर सु छु जायि जायि मंज़ वुछ।
युथ छु नज़दीक अच़्छ'ऽनिय बायि मंज़ वुछ।।°°

ज़िनिसि'ऽय मंज़ वुछ छुय नार यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
माँन्ज़े मंज़ छुय वो'ज़्ऽज्यार यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
अच्छ़ऽरन मंज़ छुय आकार यि्थ्ऽ पा'ऽठ्य।
यार यिथ्ऽ पा'ऽठ्य पन'ऽनि कायायि मंज़ वुछ।।°°

शीनस मंज़ वुछ छुय ज़ल यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
बलियस मंज़ वुछ छुय बल यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
थलि थलि वुछ छुय कीवल यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
शिव्ऽ निर्मल हृदयि गोफायि मंज़ वुछ।।°°

गुणियन मंज़ वुछ छुय गो'ऽण यिथ्ऽ पा'ऽठ्य
भूषणनिय मंज़ छुय स्वन यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
आकाश मंज़ च़्वन भूतन यिथ्ऽ पा'ऽठ्य।
शब्द यिथ्ऽ पा'ऽठ्य छुय नायि मंज़ वुछ।।°°

व्योनुय ज़ुव छुय शिव छ़्वन मूऽ छ़ारिय।
प्रथ जाये छुय करतो व्यच़ारिय।
वीदव त्ऽ संतव वो'ऽन हय यि सारिय।
करारिय यी पन्ऽनि रायि मंज़ वुछ।।°°

(ख) ज़्यवि रो'ऽस वो'ऽन च़्य गोऽ'र'ऽव।
कन्ऽवेय रो'ऽस च्ऽ बोज़िय।।
आश्चर्य वत् च् वुछिय।

आश्चर यि गूव्यन्दो।।°°

मोऽ'ख अच्छ़ कऽन मूऽकर बन्द।
वुछ ़च्वपा'ऽर्य पानऽ गूव्यन्द।
ज़ीवन मो'ऽख्त आनन्द।
यूग व्यचा़रू गूव्यन्दो।।°°

तात्पर्य यह कि जब योग साधना द्वारा गुरु अनुग्रह से साधक जीवन मुक्त दशा को प्राप्त करता है तो उसे मुख, आँख, कान आदि बन्द करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। उसे उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते हर ओर से ईश्वर स्वरूप ही प्रकट होता है। वह पूजा, पूजक तथा पूजनीय खुद ही बनता है। उसे निरुद्ध अवस्था प्राप्त होती है और वह खुद ही खुदा स्वरूप बनकर रहता है। यही अद्वैतवाद होता है। इसी तथ्य को स्वामी सत्गुरु परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल महाराज ने इस भजन में ऐसे दर्शाया है :-

"सू सू करान सू दिथ म्य ज़ोर गोम।
तोर गोम यलय वज़न छु सू।।°°

सतो'र रटिथ सुरतुक ढ़ोर गोम।
सहस्त्रऽदलय वज़न छु सू।
यमि योर ज़्यव नय ह्यथ तमि तोर गोम।।°°

सूरत वा'ऽतिथ प्यठ सत्पोर गोम।
तति न्यष्कलय वज़न छु सू।।
ओऱ योऱऽ सुयये दो'ऽगन्यार कोर गोम।।°°

गूव्यन्दस खो'ऽ श पनुन गोर गोम।
सर्वह मंगला'ऽ वज़न छु सु।।
मिलविथ यारस मंज़िमयोर गोम।।°°

यही भाव श्रीमद्भगवद्गीता के इन श्लोकों से भी प्रकट है :-

(क) "सर्वभूतस्थम् आत्मानम् सर्व भूतानि च आत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।"

अर्थात् :- सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी सम्पूर्ण भूतों में व्यापक आत्मा को बर्फ में जल के सदृष्य देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

(ख) "यो माम पश्यति सर्वत्र; सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि सः च मे न प्रणश्यति।।"°°

अर्थात् :- जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में सब के आत्म स्वरूप मुझ वासुदेव को ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं अदृष्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिए अदृष्य नहीं होता है। क्योंकि वह मेरे में एकी भाव से स्थित होता है। उसके अनुभव में मेरे बिना अन्य कुछ है ही नहीं।

यही भाव इस एक और श्लोक से भी स्पष्ट है :-

(ग) "यथाकाशस्थितो नित्यम् वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत् स्थानि इति उपधारय।।"

अर्थात् :- जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मेरे में स्थित हैं ऐसा ही जानना होता

है।

(घ) **"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यः अर्जुन।**
सुखं वा यदि वा दुःखं सः योगी परमो मतः।।"

अर्थात् :- हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है तथा सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है, वह योगी परम् श्रेष्ठ माना गया है।

12. योग धारणाओं का लक्ष्य :

योग धारणाओं की क्रिया तथा प्रक्रिया को देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्वनियों, वर्णों, रंगो आदि की ओर ध्यान न दे कर समान भाव से एकीकरण की स्थिति प्राप्त करें, जो योग धारणाओं का वास्तविक लक्ष्य होता है। परन्तु जीव जीवन के असली उद्देश्य को न समझकर व्यर्थ की इन प्रदर्शनियों में तथा इन से प्राप्त सिद्धियों के पीछे ही जीवन को नष्ट कर देता है और वास्तविकता से वञ्चित रहता है। मनुष्य पर-ब्रह्म मालिक की एक विलक्ष्ण रचना है। वह परमात्मा का ही अंश तथा अनुरूप है। मनुष्य में अपार शक्ति है उसके अन्दर अमूल्य निधि, लाल जवाहिरात आदि का भण्ड़ार है। परन्तु वह एक भिक्षुक की भाँति दर-दर भटकता रहता है और दर-दर की ठोकरें खाता रहता है। आशा तृष्णा को मिटाते मिटाते फिर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से उनके पीछे लगा रहता है।

वास्तव में मनुष्य के जीवन का अभीष्ठ उद्देश्य अपने आत्मा को पहचानना, अपने मालिक को जानना, उसके साथ लौ लगा कर वापस निज घर में पहुँच जाना है। ऐसा गुरु कृपा तथा निद्यासन के बिना कदापि

सम्भव नहीं हो सकता। जैसे स्वामी जी के एक भजन की चन्द पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :-

"हरदम्ऽ होश कर दम म्ऽ राव्ऽ राव।
लोस्ऽ सान लल्ऽ नाव सु हम सू।।
शो'ऽद्ध बन ज़िन्दय परम्ऽ पद प्राव।।"

यि शरण सत्गो'ऽरन दिह मशिराव।
तस पान पुश्ऽराव सूहमसू।।
गूवयन्द्ऽ तारी दय ब्या'ऽन्य नाव।।"

ॐ R.S.

षष्टक (छटा) खण्ड़

योग साधना में रंगो का विवरण तथा समाधी के भिन्न प्रकार

1. भिन्न प्रकार के आन्तरिक रंग तथा दृष्यों का विवरण :-

योग साधना द्वारा ध्वनियों के साथ-साथ रंगों की भी चमत्कारिक प्रक्रिया होती है। जिन का विवरण हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के निम्नलिखित भजनों में स्पष्ट रूप से आया है :-

(क) तमि आलमुक आलविय गव यस कनन।
त'ऽस्य ननन गूव्यन्द्ऽ छो'ऽप्ऽ कर केन्ह म्ऽ वन।°°

वुछ क्रुहुन ज़र्दिय सब्ज़िय न्यूलये।
क्या मनोहर छुय सफेदिय जूलये।।
लाजवर्दिय सो'ऽ नहरी वो'ऽ ज़ोलये।
बोज़ सत्गो'ऽर शब्दिय अनमोलये।।°°

यस मुच़रुख तोरुय तोर दरवाज़ये।
त'ऽम्य बूज़ुय सत्यलूकुक साज़ये।।
प'ऽज़्य पा'ऽठ्य गूव्यन्द्ऽ सुय छुय राज़ये।।°°

(ख) जय निरञ्जन स्वर भाग्यचवानय।
बन्दगी कर सुब्ह शाम सो'ऽन्दरो।।°°

सहस्र्ऽ दल्ऽ वुज़मल्ऽ वो'थानिय।
वुछ ज़र्दिय सो'ऽर्ख श्याम सो'न्दरो।।°°

वाह कोसम रंगऽ चम्कानिय।
रम्ब्ऽवुन र'ऽव तति द्राम सो'ऽन्दरो।।°°

छो'ऽत र'ऽव खो'ऽत गव मंध्यानिय।

मो'ऽर्ली बड़ि धूम्ऽ धाम सो'न्दरो।।°°

पुणिम हुन्द चद्रम्ऽ ज़ोतानिय।
गटि मन्ज़्ऽ सुय ढ़ेयछाम्ऽ सो'न्दरो।।°°

लछि ब'ऽद्य सिर्यि तोर मन्दछानिय।
त्युथ गाश सत्ऽ के ग्राम सो'ऽन्दरो।।°°

गूव्यन्द्ऽ सुय च्योन जुव तऽ जानिय।
बोज़ रोज़ सान आराम् सो'न्दरों।।°°

2. तत्त्वों के आधार पर आन्तरिक दृष्यों का विवरण :

योग साधना में उपासना द्वारा जो भिन्न प्रकार के रंग रोशनी के रूप में चम्कने लगते हैं वह इस प्रकार के होते हैं :–

"लाल (सिन्दूरी); सुनहरी; लाजवर्दी; श्वेत (सफेद); सब्ज़ (हरा); ज़र्द (पीला); श्याम (धूम्र) वर्ण आदि।"

रंगों का प्रकट होना तो तन्मात्रिक स्थिति होती है जो पाँच तत्त्वों के आधार पर होती है, जिनसे इस भौतिक शरीर का निर्माण हुआ होता है।
"पृथ्वी (खाक); जल (आब); अग्नि (नार); वायु (बाद); आकाश (व्योम);" ऐसे पाँच तत्त्व हैं जिनके सन्तुलित समन्वय के आधार पर इस शरीर की रचना हुई है। रंगों की स्थिति इस प्रकार है :–

पृथ्वी तत्त्व से ज़र्द;
जल तत्त्व से श्वेत;
अग्नि तत्व से सुर्ख़;
वायु तत्व से सब्ज़;

मुख्य रूप से यही रंग प्रकट होते हैं जो तत्वों के आधार पर होते हैं।

इसी प्रकार वासना के आधार पर इन रंगों के अतिरिक्त कभी कभी चन्द्र, तारे, बिजलियाँ (बिना बादल), इन्द्र धनुष्य, आदि प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार मान्सिक प्रक्रिया (मनोविज्ञान) के आधार पर कभी कभी देवी-देवता, ऋृषि-मुनि, त्रिकारण आदि देखने में आते हैं। कभी कभी भूत गण, कभी गुरु देव, कभी उपास्य देव की मूर्ति देखने को मिलती है।

यह सब ध्यान धारणा की स्थिति होती है। परन्तु जो सच्चा साधक होता है वह इनका अनुभव होकर भी इन की ओर कम ही ध्यान देता है। क्योंकि यदि वह इन दृष्यों की ओर लग जाए तो उसे अहंकारी बनने की सम्भावना होने से वह अवश्य ही लक्ष्य प्राप्ति से वञ्चित रह जाता है। इन रंगों के प्रकटीकरण पर ही अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति का आधार होता है। इस से साधक का अहंकारी बनना निश्चित ही है जो साधक के समझ की बाहिर की वस्तु बनकर उसके पत्न का कारण बन सकता है। अतः सच्चे साधक को इनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिए। यही भाव स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन से स्पष्ट है :-

"वुछ आकाशुऽ गँगा अजा'ऽयिब नज़ारय।
वनन संत ईशारय हुशियारन कुनिय।।°°

उद्धय गयि सिर्ये हज़ाराँ हज़ारय।
सपुद तीज़्यक्यन फम्वारन कुनिय।
द्युतुय चाँदनिये ह़्वपा'ऽरी छकारय

कनिय दचू चूऽ नबच्यन तारन कुनिय।।°°

फुलय छय कुलिनिय सदा न'ऽव बहारय।
बसिथ वुछ परहेज़ गारन कुनिय।
अजब सब्ज़ारा अजा'ऽयिब शहारय।।°°

चूऽ छ़ार सार वस्तु यि हो छुय असारय।
फ़कत मो मह्ऽव गछ़ नज़ारन कुनिय।
अभ्या'ऽसिस रुकावट वत्ये मंज़यि वारय।।°°

सत्ये लूक खसबा अगमिय अपारय।
वो'ऽ नुय गूव्यन्दनिय यि यारन कुनिय।
अन्नामय बगैर नो करुन कुनि करारय।।°°

इस प्रकार इन दृष्यों, रंगों, आदि से विचलित न होकर जब साधक उपासना रत्त बन जाता है तो बिना पूरक (Inhilation) तथा बिना रीचक (Exhilation) के अभ्यास के वह स्वतः सिद्ध ही कुम्भक (Retention of Breath) दशा में रहता है। प्राणायाम द्वारा जब नाड़ियाँ शुद्ध बनती हैं तो चिदाकाश में ऐसी तरंगे उठती हैं जो 'नाद' अथवा 'प्रकाश' रूप धारण करती हैं। मन्त्र जाप से जैसे 'जय निरञ्जन', 'सारँग रारँग', सोऽहम' आदि के उच्चारण से ऐसी दशा बनती हैं जो तत्त्व, वासना, मन के परे की स्थिति बनती है वही अपरोक्ष दशा होती है। श्वास-उश्वास द्वारा लगभग दो-तीन लाख बार मन्त्र जाप के आधार पर 'भव्य ध्वनियाँ' दाईयें कान में गूँजने लगती हैं। कभी कबार बायें कान से उतर कर दाईयें कान की ओर गूँजने लगती हैं। इसी को 'अनहद नाद' का स्पष्टी करण कहते हैं। दोनों कानों को दो

हाथों के अगूँठों से बन्द करके जिसे 'योणी मुद्रा' कहते हैं बड़े ही ध्यान मग्न होने पर यह मुख्य ध्वनियाँ प्रकट होने लगती हैं तथा स्पष्टता प्राप्त करती हैं। विशेषकर दाइयें कान की ध्वनियाँ सुनने का प्रयत्न करना होता है जो साधक के बस की बात नहीं होती है। यह सब कुछ सत्गुरु कृपा पर ही निर्धारित होता है। सत्गुरु कृपा से सहज ही में पिंगला नाड़ी जो नाक के दाइयें तरफ को होती है जिसे "सोर नाड़ी" भी कहा जाता है क्रियान्वित होती है। वह इस ध्वनि को अधिक सपष्टता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होती है। इसी प्रकार सुषम्णा नाड़ी, जो इड़ा-पिंगला नाड़ी के मध्य में नासिका से ब्रह्मरंध्र तक जाती है जिसे ब्रह्म नाड़ी भी कहा जाता है, के द्वारा ध्यान धारणा से प्रकाश स्वरूप नारायणी सत्गुरु प्रकट होने लगता है ज़ो लक्ष्य पूर्ति में सहायक सिद्ध होता है। यही वास्तविक सिद्धि का केन्द्र होता है। जब कि इसका वास्तविक अन्त फना फिला में ही होता है और इसी से आवगमन का चक्कर छूट जाता है। यह सार-ध्वनि जो चिदाकाश में गूंजने लगती है तथा ब्रह्माण्ड़ में जिसका सञ्चार होने लगता है इसी का नाम अनहद ध्वनि है और यही 'ओ३मकार' ध्वनि कहलाती है। यह हृदय में प्राण के प्रवाह से होती है। इसका उच्चारण 'व्याहृत' - कण्ठ से तालब्य तथा ओष्ठ की गति है। जैसे कण्ठ से अकार, तालव्य से उकार और ओष्ठ से मकार की ध्वनि स्वरूप बनकर फिर धुनात्मक 'अव्याहृत' स्वरूप नासिका दृष्टि द्वारा भ्रूमध्य से सहस्रदल में विलीन होती है। जो पहले सो३हम का रूप धारण करता है। इस प्रकार ओ३मकार व सो३हम अन्तर

सम्बन्धित हैं ओर उच्चारण में व्याहृत तथा अव्याहृत पूर्ण चक्र बनाता है। इसी की नींव पर अजपा-जाप की गूंज प्रकट होने लगती है।

अब इन भव्य ध्वनियों पर जो अभ्यास द्वारा सुनने में आते हैं, संक्षेप में स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं :-

1. छिन्नकार ध्वनि (गुँगरू की झन्कार);
2. घँटा नाद; 3. शंख नाद; 4. मदहम नाद (सितार);
5. थाली नाद (थाल'ज); 6. मुर्ली नाद (Flute);
7. ढ़ोल नाद (Drum) 8. मृदगं नाद (Double Drum)
9. भौंर गुंजार (भौंरो की गुञ्जार);
10. बादलों की मदहम गर्जन।

इन से वास्तविकता का बोध होता है और साधना में विश्वास बड़ने लगता है तथा प्रीति व प्रतीति होने लगती है। इनका इतना ही महत्त्व समझना होता है और इनकी ओर कम ही आकर्षित होना होता है।

इसी प्रकार ध्वनियों के सद्दश रंगों तथा द्दष्यों की भी चमत्कारिक प्रदर्शनी होती है। रंगों की प्रर्दशनी तत्त्वों के आधार पर होती है। इसे तत्त्व-ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। परन्तु सच्चे साधक के पूर्ण रूप से ध्यान-मग्न होने पर यह सभी रंग तथा ध्वनियाँ लुप्त होते जाते हैं और उसे आत्म बोध होने लगता है।

अब इन रंगों तथा दृष्यों की गति पर थोड़ा विस्तार पूर्वक प्रकाश ड़ालना भी आवश्यक है। कभी तो हज़ार सूर्यों जैसी रोशनी प्रकट होती है जो हृदय में सुषुम्णा नाड़ी के विकास में आने पर होती है। इसी प्रकार पीला, श्वेत, लाल, केसरी, सिन्दूरी हरा तथा श्याम वर्ण के रंगों की झलकियाँ भी देखने को मिलती

हैं। साथ ही साथ चन्द्र, तारे, बिजलियाँ, इन्द्र धनुष आदि के दृष्य भी सामने से अन्तर में प्रकट होते हैं। इन दृष्यों का आना जाना होता है। कभी आते हैं और कभी जाते हैं जो एक अचम्भा जैसा होता है। यह सब आश्चर्य लीला ही है जो देखकर भी समझ में नहीं आते हैं। कभी कभी साधक इन से अनभिज्ञ ही रहता है। परन्तु योग साधना में ऐसा नहीं होना चाहिए। इन को जानकर ही इनकी ओर ध्यान नहीं देना होता है। इनको एक ओर छोड़कर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होता है।

इनको जानकर ही मनुष्य की समझ में आता है कि कभी कभी तो यह दृष्य काल्पनिक भी होते हैं जो अपने ही विचारों की पुनर्आवृत्ति होती है। इनका आधार मन के विचारों पर ही होता है जिस से समय यों ही नष्ट होने की सम्भावना होती है। अतः इन रंगों तथा दृष्यों से भ्रमित न होकर वास्तविक केन्द्र 'संवित शक्ति' के प्राप्ति की ओर ही ध्यान देना होता है। इसी प्रकार वैखरी से मध्यमा –पश्यन्ती – परा (subtle forms of sounds) के परे 'ओ३मकार' अथवा अनादि–ब्रह्म में लय होना होता है। रंगों, ध्वनियों, वाणियों, प्रकाशों के स्रोत सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में विल्लीन होने का प्रयास करना होता है। अशब्द (अन्नाम), अस्पर्श (अगम्), अरूप (अलख), अगन्ध, अप्राण, अमन (अगोचर) अतिन्द्रिय (जितेन्द्रिय), अदृष्य (अलख), आदि अवस्था प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। मन तथा इन्द्रियों से ब्रह्म–विचार "शिवोहम्" (I am blissful Shiva) द्वारा वासना, तृष्णा, मोह, घृणा, राग, द्वेष, वैर, अहंकार,

दम्भ, कपट रूपी वृत्त्यिों को त्यागने का प्रयत्न करना होता है। 'ओ३मकार' अथवा 'सो३हम' के जाप से ऐसे संस्कार बनते हैं कि ब्रह्मात्मकार वृत्ति शीघ्र ही उजागर होती है। "मैं मन हूँ", "मैं शरीर हूँ,", "मैं कर्त्ता हूँ," "मैं भोक्ता हूँ।" ऐसे विचार कदापि नहीं आते हैं। इस प्रकार जप, कीर्तन, उपासना, प्राणायाम, निद्यासन तथा गुरु श्रद्धा द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। मन के वश में होते ही इन रंगों के भिन्न प्रकार के दृष्य तथा ध्वनियों के भिन्न प्रकार के श्रवण साधक को कभी भी आकर्षित नहीं करते हैं। इनका अनुभव होते हुए भी सच्चा साधक तनिक भी विचलित नहीं होता है। वह निष्काम तथा निस्पृह अवस्था, जिसमें कोई लोभ या वासना नहीं होती है, प्राप्त करता है। जो मुनष्य जन्म का वास्तविक लक्ष्य होता है।

3. ओज शक्ति तथा राजा पीपा व संत रविदास की घटना :-

ओज शक्ति से ताप्पर्य आत्म बल तथा तेज-प्रताप से है। गुरु भक्ति तथा दृढ़ विश्वास से साधक को 'दिव्य तेज' प्राप्त होता है जिस से उसका आत्म बल सुदृढ़ होता है और वह अन्य जीवात्माओं के इस लोक तथा परलोक दोनों का कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक मार्ग को सहज तथा निश्चित, बनाने के लिए और 'दिव्य शक्ति' की प्राप्ति के लिए 'ओज शक्ति' का सुरक्षित रखना अनिवार्य है। इसके सुरक्षित रखने से मन की विह्लता रोकी जा सकती है। मन सदा-सर्वदा ही उजागर और सावधान रहता है। कभी

थकान का नाम ही नहीं लेता और सदा ही स्वरूप-निष्ठ रहता है।

मान्सिक तरंगे ऐसी शक्ति-शाली होती हैं वह संगीन दीवारों तथा ऊंचे पर्वतों को भी लाँध सकते हैं। जिस प्रकार ऐक्स-रेज़ हड्डियों को पार कर सकती हैं इसी प्रकार मन की विचार धारा कुछ भी कर सकती हैं, कहीं भी पहुँच सकती है तथा कितने ही समन्द्रों को पार कर सकती है। परन्तु 'ओज शक्ति' द्वारा इसको वास्तविक मार्ग पर लाया जा सकता है। ओज शक्ति द्वारा ही एकाग्रता बनी रहती है, एकाग्रता से देह से विदेह होकर निद्यासन स्थापित होता है, निद्यासन से मन से विमन होकर समाधी अवस्था बनती है और समाधी से ब्रह्मात्म के साथ एकीकरण स्थापित होता है। इस प्रकार ब्रह्मात्म साक्षात्कार के जो साधन जैसे एकाग्रता, निद्यासन तथा समाधी हैं उन सबका मूल स्रोत यही 'ओज शक्ति' है। इसी को अंतरंग साधना की मूल शक्ति 'कान्ति स्वरूप' अथवा 'दीप्ति स्वरूप' उत्साहवर्धक बल कहा जाता है। मनुष्य का सारा व्यवहार इसी पर आधारित होता है। व्यैक्तिक आत्मा (Individual self), हिरणागर्भ-आत्मा (cosmic mind), सूत्रात्मा (one common thread soul) को इसी 'ओज शक्ति' द्वारा ही योगी लांघ कर जीवन मुक्त हो कर सारी सृष्टि में विचरण करता है। उदाहरण स्वरूप आदि गुरु श्री शंकराचार्य, दत्तात्री मुनि, वामदेव जी, जड़ भरत, सूफी संत मन्सूर, प्लटू साहब, शमस्तब्रेज़, रामदास जी, संत कबीरदास जी महाराज, संत तुकाराम जी, संत रविदास जी, मीराभाई, रामानुजाचार्य, महर्षि दाता दयाल, हजूर सालेग्राम

जी महाराज, हजूर महाराज शिव दयाल जी आदि ने कारण व कारज जगत को प्रकटाया तथा इनको इस स्थिति की पहचान आई। उन्हीं को सर्व विद्ध अर्थात् सर्वज्ञ कहा जाता है (Knower of all details of creation)। यहाँ केवल आन्तरिक अभ्यास अनुभव काम करता है न कि बुद्धि अथवा मन। अपितु इसकी नींव यही 'ओज शक्ति' है।

इसको सुरक्षित रखने का एक उपाय मौन साधना अर्थात् मित्त भाषी बनना होता है। व्यर्थ के वाद विवाद में समय तथा शक्ति नष्ट नहीं करनी होती है। दाता दयाल महर्षि शिवब्रत लाल जी महाराज तथा परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज इस 'ओज शक्ति' को सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत को विशेष महत्त्व पूर्ण उपाय बताते हैं। ओज शक्ति से ही साधक मन-बुद्धि के परे होकर सारी सुष्टि (cosmos) के रहस्य को जान सकता है। वह एक-निष्ठ बनकर अपने आप सहित चारों ओर ईश्वर-स्वरूप देख सकता है। जैसे संत 'शिर्ड़ी बाबा' साहब का टी० वी० सीरियल में दिखाया गया था। ऐसा ही परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज कहा करते थे कि योगी को सारी सृष्टि का हाल 'ओज शक्ति' द्वारा ही प्रकट रूप से दिखाई देता है। एक निष्ठ हुए सन्तों की ऐसी दशा बनती है कि उनका एक एक वचन सच्च होकर रहता है। कहा भी गया है "संत वचन पल्टे नहीं चाहे पल्टे ब्रह्माण्ड़!" यह सब 'ओज-शक्ति' का ही प्रभाव होता है। इसकी सुरक्षा का तीसरा उपाय निश्चिन्त भाव, निर्अहंकारी वृत्त तथा एक निष्ठ भाव को अपनाना होता

है। ऐसे संत सुष्टि के सूक्ष्माति सूक्ष्म वृत्तान्त को देख सकते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को आईने में अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखाई देता है इसी प्रकार उनके सामने सृष्टि का हाल रोशन होता है। परन्तु जो फर्ज़ाना (कर्त्तव्य परायण) अर्थात् गृहस्थी संत होते हैं उनको इसे स्पष्ट नहीं करना होता है। उन्हें इसे प्रकट करने की विशेष रूप से पाबन्धी होती है नहीं तो वे वास्तविकता से वंचित रहते हैं। उन्हें जानते हुए भी चुपी साधनी होती है यह जानते हुए कि "खुदा की बातें खुदा ही जाने; राज़ को राज़ ही रहने दो"। इसके विपरीत जो मस्त-कलंधर मस्ताना मलंग संत होते हैं उन्हें इसे प्रकट करने में कोई पाबन्धी नहीं होती है। वह उलटबासियों के प्रयोग द्वारा सारे रहस्य को प्रकट करके रहते हैं केवल समझने वाली बात होती है। वैसे तो सभी संत अपनी ओज शक्ति के प्रभाव से सबों का कल्याण करने में ही व्यस्त रहते हैं। जो भी पैगम्बर, औलिया, अवतार संसार में आये वह अपनी 'ओज शक्ति' द्वारा मानवजाति का समय समय पर कल्याण कर बैठे। उनमें अद्वैत ही अद्वैत तथा एक-निष्ठ भाव ही व्याप्त होता है। इनमें न उपासक, न उपासना, न उपास्य-देव ही होता है। इनमें न लाभ न हानि; न दुःख न सुख, न पूर्व न पश्चिम, न उत्तर न दक्षिण; न दिन न रात; न रोशनी न अँधेरा, न रंग न ध्वनि; न सुबह न शाम, न धूप न छाओं, न सर्दी न गर्मी आदि हाती है। केवल ईश्वरीय सत्ता ही सत्ता होती है। जिसकी आधार शिला यही "ओज शक्ति" होती है। यहाँ इन्द्रियों, मन, बुद्धि का कोई काम नहीं होता अपितु केवल ईश्वरीय अनुग्रह, गुरु प्रसाद,

तथा गुरु कृपा की ही बात होती है। इसी भाव का स्पष्टीकरण स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज के इस भजन में हुआ है :-

"म्यति वुछ थलि थलि तो'ऽह्य ति वुछितोन।
शिव सदा शिव ह'ऽय परमॣऽ शिव हऽ'य ज़ुव
सोन।।°°

यति नॣऽदो'ऽह यति नॣऽ रात भा'ऽय बन्ध म्यत्र।
यति नॣऽ मोल यति नॣऽ मा'ऽज्य स्त्री पो'ऽत्र।।
तति दो'ऽ ईम तस ह'ऽय रो'ऽस कान्ह नय रछॣ
वोन।।°°

वाह वाह स्वप्रकाश निर्भयी।
कालसति ति'ऽहिन्ज़िय नठ नठ छयी।।
संतव सुय पनुन आत्मा ज़ोन।।°°

सर्वॣऽ शक्तिमानिय तॣऽ आश्चरिय
शक्ति पातॣऽ दातय छु शंकरिय।।
गूव्यन्दस तमी द्युत हऽय दर्शोन।।°°

इसी प्रकार दूसरे इन भजनों में ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है का भाव स्पष्ट रूप से प्रकट है। :-

(क) "पानय शमाह पानय परॣऽवानय।
पानय गथ पानस करानय लो।।

पानय नाव हाँऽ'ज़्य पानय वायानय।
पानय पानस सु ताराना'य लो।।
पानय हम खूर पानय नम रटानय।।°°

पानय दिह ध्याता पानय ध्यानाऽ'य।
ध्यान पनूऽनुय सुधारानाऽ'य लो।।
पानय तस ननि यस बनि ज़ाना'ऽय।।°°

पानय गूव्यन्द पानय भगवाना'ऽय।
पानय पानस सु छ़ाराना'ऽय लो।।
वुछिथ यि गूव्यन्द छुय असाना'ऽय।।°°

(ख) "लोलूऽ पोशन कऽ'स्यय पोशि ब'ऽनी।
निस्त्रयगुणी शिवस करू पूज़्य।।"°°

पूज़ा पूज़ि पूज़ख सोरुय छु पानय।
पानय पानस छु पूज्य क'राना'ऽय।।
सोरुय सुय छु सऽ'न्य वो'ऽगिनी।।°°

हाऽ'रतस प्यव यूग तय ज्ञिन्यान।
वीद शर्मन्दूऽ गछ़िथ छि म्यवान।।
आश्चरस गयि ब'ऽड़य बऽ'ड़्य मुनी।।°°
ईकूऽवट रठ मन ता'ऽय ब्ययि प्राण।
सोरुय शिविय तूऽ कुनि नो शैतान।।
गूव्यन्दूऽ पानस द्यू व'ऽन्यी।।°°

इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि 'ओज शक्ति' से उस परम सत्ता अथवा परम्-तत्त्व की ओर संकेत है जो 'दिव्य शक्ति' का स्वरूप होता है जिस के प्रभाव से पूर्ण पहुँचे हुए कामिल संत पुरुष दूसरे जीवात्माओं का उद्धार कर सकते हैं। इसी के बारे में राजा पीपा के साथ घटी हुई घटना का संक्षिप्त वर्णन विशेष महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है, जो इस प्रकार से है :-

राजा पीपा एक क्षत्रिय राजपूज था। उसे बहुत ही तड़प थी कि किसी पूर्ण कामिल संत से मिल कर अपना जन्म सफल बना सके। उसे पता चला कि संत कबीर साहब का शिष्य रविदास जी महाराज एक पूर्ण पहुँचे हुए संत हैं। परन्तु वह जाति के चमार थे। उसे ड़र था कि यदि वह उसके पास जाए तो प्रजा बिगड़ जाएगी। एक बार कुम्भ का मेला लगा तो सभी लोग गंगा स्नान को चले गये। उधर वहाँ संत रविदास जी घर में अकेले थे। राजा पीपा ने इसे अच्छा अवसर जान कर चोरी छुपके उनके पास जाने का साहस किया। वहाँ पहुँचकर चरण वन्दना करके उनसे नाम दान देने के लिए विनम्र प्रार्थना करने लगे। उस समय संत रविदास जी महाराज चमड़ा रंगने के लिए चमड़ा भिगोने वाले कुण्ड़ में पानी भर रहे थे। उन्होंने राजा से यही पानी पीने को दिया। राजा ने यह सोचते हुए कि उसका क्षत्रिय धर्म भ्रष्ट न हो जाए इस पानी को पीने के बजाय दूसरी ओर मुँह करके अपने कुर्ते की बाँह में फैंक दिया यह जानते हुए कि कहीं संत न देख लें। यह तो वास्तव में यही ओज पूर्ण अमृत था। राजा ने घर जाकर शीघ्र ही अपने कपड़े उतारे और धोबी को बुलावा भेजकर मंगवाया और उसे कहा "यह कपड़े ले कर दाग इसी समय साफ करके ले आ।" धोबी कपड़े ले कर घर पहुँच गया, स्वयं मसाला तैय्यार करने में लग गया और बेटी से कहा कि वह इन दागों को मुँह से चूसती रहे ताकि दाग मिटते जाएँ। वह बच्ची थी। वह चूस चूस कर बाहिर थूकने के बजाय अन्दर पीती गई। ज्यों ज्यों वह चूसती गई उसके अन्दर के पर्दे

खुलते गये और रोशनी चम्कती गई। उसमें दिव्य ज्ञान की झलक आ गई और चारों ओर फैल गया कि धोबी की सुपुत्री बड़ी ही महान् संत है। लोग उसके पास दर्शन के लिए आने लगे। राजा तक भी यह समाचार पहुँचा कि धोबी की सुपुत्री चमत्कारिक कृष्मे दिखा रही है। राजा भी रात के समय धोबी के घर गया और उसकी बेटी से बोला, "मैं आपके पास राजा बनकर नहीं अपितु एक भिखारी बनकर आया हूँ।" धोबी की लड़की भी झट से उठ कर उसके चरणों में प्रणाम करके बोलती है, "मैं भी राजा समझ कर आपके चरणों में नहीं झुकती हूँ अपितु जो कृपा मुझ पर हुई है। वह आपके कारण से ही हुई है। जो रहस्य की वास्तविकता है वह आपके कुर्ते के द्वारा ही प्राप्त हुई। मैंने केवल उसे चूस लिया और मुझ में यह ओज शक्ति अर्थात् तेज, प्रताप व आत्म-बल प्रकट हुआ।" राजा पीपा को शीघ्र ही याद आया कि यह तो वही पानी था जो संत रयिदास महाराज जी ने उसे पीने के लिए दिया था। वह पछताने लगा कि धिक्कार है कुल को, धिक्कार है इस राज्य को जिस के ड़र के कारण मैं वास्तविकता से वञ्चित रहा। वह दौड़ते दौड़ते लोक लाज की परवाह किये बिना ही संत रविदास जी के पास गया और उसे विनम्र प्रार्थना करने लगा "महाराज! मुझ से भूल हुई। मुझे क्षमा कीजिए और उसी कुण्ड़ का जल फिर से पिला दीजिए।" संत रविदास जी महाराज बड़े विनम्र स्वभाव से बोल उठे, "अब वह नहीं मिल सकता, उसका वास्तविक प्रभाव व महत्व उसी समय के लिए था। वह कुण्ड़ का पानी नहीं था अपितु सच्चखण्ड़ से

लाया हुआ अमृत जल था। मैंने सोचा था कि आप सचमुच ही इसके अधिकारी हो क्योंकि आप राज छोड़ कर तथा बड़ी अभिलाषा से आये हो अतः आपको कोई खास वस्तु ही मिलनी चाहिए। परन्तु वास्तव में इसका अधिकारी कोई और ही था। अब आप नाम लें और कमाई करते जा।"

संत रविदास महाराज जी ने बड़े ही प्रेम तथा कृपा करके राजा पीपा को नाम-दान दिया और उसने भी अच्छी कमाई करके आत्म निरूपण किया और वह भी महान् आत्मा बन गया और गुरु कृपा से वह भी महान् आत्माओं में गिना जाने लगा। इस पर उसकी वाणी इस प्रकार थीः "जिस को अन्तर का स्वाद प्राप्त हो जाए यदि सारा संसार उसकी निन्दा करे पर वह उसकी तनिक भी परवाह नहीं करता। उसकी धारणा बनती है कि यह खुद अन्धे हैं, चाहे जितनी भी निन्दा करें इन्हें करने दें"।

हमारे सत्गुरु महाराज परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल जी महाराज का यह भजन इसी भाव की अभिव्यक्ति करता है :-

"गूव्यन्दनिस हृदयस करिथ गव ओ३म'ई गाश।।
ज़न्मूऽ ज़न्मय ब्रोन्ठिय वो'ऽद।
वो'ऽन्य गो'ऽर'व वुछ्यो स्यो'ऽद्ध।।
च़ाँगे प्यठ्ऽ च़ोंग हा दोऽ'द्ध।
तथ मा ग'ऽव कमिय गाश।।°°

गाशे मन्ज़्ऽ गाशन च़ाव।
गाशस गाशी मिलुऽ नाव।।

गाशे मन्ज़् गाशी द्राव।
आव अगमिय गाश।।°°

गतस प्यठ दरोनुय।
सख छु ज़िन्द्ऽ मरोनुय।।
सूर च़्यतस करोनुय।
दियी सोऽ'ख शमिय गाश।।°°

सारॉश यह है कि यह ब्रह्मात्मा जो है यह अव्यक्त, अचिन्त्य, अविनाशी तथा अविकारी है। अर्थात् यह इन्द्रियों का अविषय, मन का अविषय, बुद्धि से परे विकार रहित है। जब साधक इस दशा को प्राप्त करता है तो इसी को समाधी अवस्था कहते हैं और इस में गुरु कृपा-दृष्टि का विशेष महत्व होता है।

4. भिन्न प्रकार की समाधी :-

अब यहाँ पर समाधी अवस्था की भिन्न दशाओं पर प्रकाश ड़ालना यथोचित है क्योंकि इसकी जानकारी भी एक अभ्यासी के लिए बहुत हितकर सिद्ध होगी। सभी तो समाधी-समाधी रट लगाते हैं परन्तु विस्तार पूर्वक समझने से अभ्यास में समृद्धि हो सकती है। समाधी की भिन्न भिन्न प्रकार की दशाएँ इस प्रकार हैं :-

i. जड़ समाधी :-

समाधी जो मुद्राओं तथा प्राणायाम के द्वारा प्राप्त होती है उसे जड़ समाधी कहते हैं। इसमें वासनाओं का पूरी प्रकार से दमन नहीं हुआ होता है। अर्थात् वासनाएँ पूर्ण रूप से लुप्त नहीं होती हैं। जो कर्म-चक्कर को मिटाने में बाधक सिद्ध होते हैं। इसमें आलस्य तो दूर

होता है तथा मन की स्थिरता आने लगती है। परन्तु आवागमन का चक्कर नहीं मिटता है। अतः मन के लगने के लिए जड़ समाधी को अपनाना भी पहले पहले अनिवार्य होता है।

ii. **चैतन्य समाधी :-**

इसमें साधक पूरा जागरूक होता है। वह ईश्वरीय रहस्य का ज्ञाता बनता है। प्रमाद पूर्ण रूप से मिट जाती है। साधक ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति से निष्काम तथा परोपकारी भाव से मानव जाति का कल्याण तथा उद्धार कर सकता है। इसमें वासनाएँ पूर्ण रूप से लुप्त हुई होती हैं। साधक कैवल्य भाव प्राप्त करता है, अपना-पराया भाव मिट जाता है और जन्म मरण का बन्धन छूट जाता है जो मनुष्य जन्म का वास्तविक लक्ष्य होता है।

iii. **भाव- समाधी :-**

तीसरी प्रकार की समाधी भाव-समाधी है। इस प्रकार की समाधी भक्त जनों द्वारा अनुभव की जाती है। यह भक्ति भाव जिसे महाभाव भी कहते हैं से प्राप्त होती है। यह तो कहने में सरल है परन्तु निभाने में कठिन व कठोर। यह महाभाव इश्वरीय सत्ता का अगाध प्रेम होता है जिसमें ममत्व पूर्ण रूप से लुप्त हुआ होता है। यद्यपि कोई विष भी पिलाये तो वह अमृत बनता है। जैसे प्रह्लाद भक्त, मीरा भाई आदि। इस में पूर्ण आत्म-समर्पण होता है। इस में हर प्रकार के पाप-पुण्य माफ होते हैं।

iv. **सविकल्प समाधी :-**

यह चौथी प्रकार की समाधी सभिज्ञ समाधी कहलाती

है। यह समाधी त्रिपुटी होती है, जिसमें दृष्य, दृष्टा, दृष्टव्य; उपमा, उपमेय, उपमान; पूजा, पूजक, पूजनीय; ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान; तीनों का भाव विद्यमान होता है। इसमें संस्कार लुप्त नहीं हुए होते हैं। अतः कर्मो का चक्कर चलता रहता है। इसे सम्प्रज्ञा समाधी भी कहते हैं।

v. निर्विकल्प समाधी :-

इसे निर्भज्ञ समाधी भी कहा जाता है। यह त्रिपुटि नहीं होती है। इसमें संस्कार पूर्ण रूप से लुप्त हुए होते हैं। इस समाधी में पूर्ण रूप से निर्विकल्प अवस्था बनती है। इसमें न कुछ देखने में आता है, न सुनने में आता है, न सूँघने में आता है, न स्पर्श करने को कुछ मिलता है। इसमें निस्त्रयगुणी अवस्था प्राप्त होती है। इसमें देह-अवसान मिट जाता है। देह-अवसान से तात्पर्य देह का होश अथवा देह अद्यास से है। इस में सब कुछ होते हुए भी कुछ भी नहीं होता है। केवल आश्चर्य ही आश्चर्य होता है। इसी को सम्यक्ष ज्ञान, सम दर्शन, सहज अवस्था, निर्वाण पद, अपरोक्ष अनुभव, ब्रह्म आकार वृत्त के नाम भी दिये जाते हैं। ब्रह्मात्म साक्षात्कार से इस अवस्था की प्राप्ति होती है। इसे असम्प्रज्ञा समाधी भी कहते हैं। इसमें अद्वैत ही अद्वैत होता है। हर ओर से अपना ही स्वरूप प्रकट होता है।

vi. निरुद्ध समाधी :-

इस प्रकार की समाधी राज-योगियों द्वारा प्राप्त की जाती है। जैसे राजा भर्तहरी की समाधी। इसमें निरुद्ध अवस्था प्राप्त होती है जो योग की अन्तिम अवस्था

मानी जाती है। इसे निर्बीज समाधी भी कहते हैं जिसमें विकास-हीनता जैसी अवस्था बनती है। इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ लय हो जाती हैं। सभी संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं। आत्मा-परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। न एक रहता है न दो बिन्दु-सिन्धु का भाव मिट जाता है। इसी को चित्त-वृत्ति निरोध अवस्था कहते हैं। यहाँ से ही वास्तविकता आजाती है और आध्यात्मिकता का द्वार खुलता है। यहीं से वास्तविक परम्-तत्त्व का पता चलता है। देहिक बंधनों तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। साधक के जानने के बिना ही उसके व्याव्हारिक कर्त्तव्य पूर्ण हो जाते हैं। उदाहरणतया संत कबीर दास जी महाराज की बेटी का ब्याह तथा स्वामी परमानन्द जी महाराज के खेत की जुताई आदि। ऐसा तभी होता है जब यम, नियम, सदाचार, शुद्ध हृदय अर्थात् शुद्ध भाव, शुद्ध वासना, सच्चा प्रेम, एक रूपता, दृढ़ विश्वास आदि प्राप्त होता है। यह निरन्तर उपासना तथा अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होता है। इसमें साधक इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार से परे पहुँचा हुआ होता है। "मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम् तप है।" ऐसा स्मृति वाक्य है।

श्रीमान् श्वेताश्वर नामक ऋषि ने गुरुदेव के मुख से ब्रह्म-तत्त्व का श्रवन करके निद्यासन, मनन तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा कैवल्य पद प्राप्त करने के उद्देश से 'अंह ब्रह्मोस्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' की अखण्ड़ वृत्ति का साक्षात्कार किया। अर्थात् निरुद्ध वृत्ति प्राप्त की। फिर अपना अनुभव दृढ़ करने के पश्चात् दूसरे पूर्ण वैराग्यवानों को भी इसी का उपदेश दिया। ऐसी ही दशा

हमारी पूज्यनीय माता कमला जी की भी थी जिस के बारे में यह भजन स्पष्ट है :-

"च़िय हा ओसुख हनि हने।
राधायि क्वड़खा वन्ये।।°°

तस भोवुथ गोऽ'ड़ऽ सोरिय।
मुचॣऽ रोवथस च़्य तोरिय।।
योरथस तॣऽ छुस धन्य धन्ये।।°°

सा'ऽल को'ऽरनय तमि गगनस।
मा'ऽल ओ'ऽननय ज़गतस।
कलि कालॣऽ आयि ज़गि तारने।।°°

प्रज़ॣऽनोवुन पान पनॣऽनुय।
अदॣऽ भोवुन सारिनिय।।
शेहजार फ्यूर च्यागि वन्ये।।°°

भवॣऽसरॣऽ तमि की'ऽत्य ता'ऽरी।
छय स्व असि ह्यतॣऽ का'ऽरी।।
भक्तयन आमिऽ'च़्य घटॣऽ स्व कासॣऽन्ये।।°°

कमलायि हि'ऽन्ज़ि कृपायि सी'ऽत्य।
बन्सरियस बन्येयि जी'ऽत्य।
पूज्य करान त्वहि सुमन्ज़ मन्ये।।°°

श्वेताश्वर उपनिषद् में इस निरुद्ध समाधी के बारें में इस प्रकार वर्णित है कि जब तक पूर्ण वैराग्य न हो तब तक ब्रह्म ज्ञान निष्फल ही है। यहाँ पूर्ण वैराग्य से तात्पर्य नाम-रूप तक के वैराग्य से भी है। जैसा कि इस श्लोक से प्रकट है :-

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तम्
गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान्नाम रूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।"

अर्थात् :- जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में ही लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से मुक्त होकर पर से भी पर दिव्य पुरुष अर्थात् परम् तत्व को प्राप्त होकर 'दिव्य-सत्ता' में ही विलीन हो जाता है।

भगवान पराशर मुनि का भी यही कहना है कि - "परा शक्ति से ही सृष्टि बनी है और इसी में विलीन हो जाती है। यह सारी क्रिया व प्रक्रिया इसी परा शक्ति का है। आत्मा न कर्त्ता है, न भोक्ता है, न प्रकृति अथवा पुरुष है, न माया है, न प्राण है। वह वास्तव में चैतन्य है, जो स्वभावतः कूटस्थ अर्थात् सर्वोपरि, अटल, अविनाशी व गुप्त, निर्गुण तथा सर्वव्यापक है। इसका न ज्ञान होता है, न बन्धन होता है और न मोक्ष ही होता है। अपितु यह परमात्मा में ही विलीन अर्थात् लय होता है।"

इसी आत्मा-परमात्मा की लय-स्थिति को 'राधा-स्वमी' की उपाधी दी जाती है जो सूरत-शब्द योग कहलाता है और योग साधना की चरम सीमा है। जिस योगी जन को इस सूरत-शब्द योग की चरम सीमा द्वारा निरुद्ध अवस्था प्राप्त होकर लय-स्थिति बनती है उसका कर्म चक्र ही मिट जाता है और वह आवागमन चक्र के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार से जो भी योगी पञ्चभूतात्मक तत्वों, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि,

वायु व आकाश जिसको तत्व ज्ञान की उपधि दी जाती, का अनुभव प्राप्त करके इन तत्वों की अभिव्यक्ति होने पर योगाग्निमय शरीर का गठन करता है उस योगी को न रोग सताता है, न वृद्ध अवस्था प्राप्त होती है और न असामयिक मृत्यु ही होती है। योग-साधना यहाँ तक पहुचँने के लिए अनिवार्य सोपान माना जाता है। अतः जन्म सफल बनाने के लिए आध्यात्मिक मार्ग में 'योग साधना' अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य निभाती है। ऐसी स्थिति पाने के लिए मृत्युँजय जाप पर बल डालते हैं जो इस प्रकार है :-

"ॐ नमो मृत्युंजिते!

"त्र्यम्बकं यजा[1]महे सुगंधिं पुष्टि[2] वर्धनम्

उर्वारु[3]कं इव बंधनात्[4] मृत्योर् मुक्षीयमामृ[5]तात्।।"

पूजा करते हैं।[1] शक्ति बड़ाने वाला[2] आमला फल की भांति[3] गांठ से[4] मैं मुक्त हो जाओं[5]

योग साधना भी इसी जाप की प्रक्रिया तथा कढ़ी है।

5. आत्म तत्त्व के विशेष भाव योग, क्षेम, अभ्यास, निर्दम्भः-

अब यहाँ पर आत्म तत्त्व अर्थात् व्योम तत्त्व के विशेष भाव योग, क्षेम, अभ्यास तथा निर्दम्भ पर भी संक्षिप्त प्रकाश ड़ालना उचित ही होगा क्योंकि इनकी जानकारी भी आत्म तत्त्व जानने के लिए आवश्यक हैं।

i. योग :-

अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है। योग-साधना द्वारा आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होना योग के अन्तर्गत आता है।

2. **क्षेम :–**

प्राप्त वस्तु की रक्षा करने का नाम क्षेम है। निर्विकल्प समाधी द्वारा निरुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है जिस से 'क्षेम' (अर्थात् हर प्रकार का कुशल–मंगल) प्राप्त होता है।

2. **अभ्यास :–**

ईश्वर के नाम तथा गुणों का श्रवण, मनन, कीर्तन, श्वास–उश्वास द्वारा जाप और ईश्वर प्राप्ति के लिए चेष्टाएँ करने का नाम अभ्यास है जिसमें धार्मिक ग्रन्थों तथा संत मुनियों द्वारा रचित ग्रन्थों का पठन पाठन भी आता है।

4. **निर्दम्भ :–**

आत्म तत्त्व की सुरक्षा के लिए निर्दम्भी होना अर्थात् निर् अहंकारी बनना परम् आवश्यक होता है। जो हठ पूर्वक ऊपर से इन्द्रियों को रोक कर तथा मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मनुष्य पूर्ण स्थिरता कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि ऐसा मनुष्य मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी होता है। वह कदापि निर्अहंकारी नहीं बन सकता है। उसको वास्तविक अभ्यासी नहीं कहा जा सकता है। अतः ऐसे अभ्यास के पीछे नहीं लगना है जिसमें दम्भ की भावना निहित हो। आत्म तत्त्व की स्थिरता के लिए निर्दम्भी भावना की विशेष आवश्यकता होती है।

6. गुण विभाग तथा कर्म विभाग :-

यह चैतन्य आत्मा जो है यह 'गुण-विभाग' तथा 'कर्म-विभाग' से निर्लिप्त है। अर्थात् यह चैतन्य आत्मा जिसकी वास्तविकता जानना ही परम् आवश्यक तथा जीवन के उद्धार का साधन है, वह त्रिगुणातीत है। न उसको कोई अस्त्र-शस्त्र काटता है, न अग्नि जला सकता, न वायु सुखा सकता है, न ही इसको जल गला सकता है। वह नित्य सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। त्रिगुणात्मक महाभूत सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, माया के पाँच महाभूत क्रोध, वैर, मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ आदि विषयों के समुदाय का नाम 'गुण विभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टओं का नाम 'कर्म-विभाग' है। आत्मा को इनसे स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द ही रखना होता है जिस से वह परम् तत्व में विलीन हो सकता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के इन श्लोकों से स्पष्ट है :-

(क) "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं
नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मात्
ऐतत्त्रयं त्यजेत्।।"

अर्थात् : काम, क्रोध तथा लोभ – ये तीन प्रकार के नर्क के द्वार आत्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसको अधोगति में (पत्न की ओर) ले जाने वाले हैं। अतएव इनको त्याग देना चाहिए।

(ख) "प्रशान्तमनसं ह्येनं
योगिनं सुखमुत्तमम्।।
उपैति शान्तरसं
ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।"

अर्थात् :- जिसका मन भली प्रकार से शान्त है, जो पाप से रहित है और जिसका तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण शान्त हो गया है, ऐसे योगी को जिसका सच्चिदानन्द-घन ब्रह्म के साथ एकीभाव हो गया हो उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार आत्मा को इन कर्म तथा गुण भावनाओं से निर्लिप्त जानना ही इनका मर्म जानना है। यह जानकर इन सबों को एकाग्र करके केवल एक "हरिः" के नाम के जाप में लग जाना है। जिसके स्मरण मात्र से पापों तथा तीन तापों का नाश होता है तथा त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। इसका मन्त्र जाप "ॐ श्री हरिः!" अथवा " ॐ हरिः नमः!" है। तात्पर्य यह कि इन्सानियत, "रूहानियत", कल्बियत", तथा "जिस्मानियत", अर्थात् "मनुष्यत्व", "आत्मत्व", "चित्ततव", तथा "शरीरत्व", पर काबू रख कर 'श्री हरिः' के नाम-स्मरण से यह लोक भी बनता है तथा परलोक भी बनता है। मनुष्य स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, बे फिक्र, बे गम, निश्चिन्त तथा अभय पद को प्राप्त करता है। सभी बाधाएँ अर्थात् प्रति-बन्ध छूट जाते हैं। योगी सत्-चित्-आनन्द प्राप्त करता है। उसे परम् धाम पद का आनन्द प्राप्त होता है। उसे न किसी का वैर, न द्वेष, न राग आदि ही रहता है। वही वीतराग पुरुष होता है। जिस प्रकार बिन्दु सिन्धु में समा जाता है उसी

प्रकार आत्मा-परमात्मा में समा जाता है। इसका मूल मन्त्र यही गुरु मन्त्र का जाप है तथा कुण्ड़लिनी जागृति का यही आधारभूत होता है। आगे के मण्ड़लों के लिए गुरु मन्त्र का उच्चारण ही रास्ता हम्मवार तथा सहज बनाता है। ऐसा उद्यमी तथा साहसी पुरुषों से ही हो सकता है। यह आल्सी, असाहसी तथा साँसारिक बन्धनों में फँसे हुए मनुष्यों का काम नहीं होता है। क्योंकि इस में त्याग भावना भी विशेष महत्व रखता है। ऐसे मनुष्य तो विरला ही होते हैं जो इस मंज़िल तक पहुँच पाते हैं। "जो ड़रते हैं वह तरते नहीं!" यहाँ पर खरा उतरता है। जैसा संत कबीर दास का दोहा है: "मैं बापुरा डूबन ड़रा रहा किनारे पैठि।" श्रुति में भी इसी तथ्य को अंकित किया गया है। जैसे

"न एवं आत्मा बल हीनम् लभ्येत।"

अर्थात् :- यह आत्मा प्राप्त करना बल हीनों के बस की बात नहीं है।

संत कबीर दास जी महाराज का यह दोहा भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है :-

"हंस पय को काढ़िले
छीर नीर निखार।
ऐसे गहै जो सार को
सो, जन उतरे पार।।"

अर्थात् :- हँस ही दूध और पानी को पृथ्क पृथ्क करके दूध को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। इसी प्रकार जो धीर व्यक्ति होता है वह सार तत्त्व को पकड़ कर भवसागर से पार हो जाते हैं।

इसके लिए सभी बाधाओं, प्रतिबन्धों तथा सांसारिक बंधनों का उल्लंघन करना होता है। जिसके लिए कठिन परिश्रम तथा दृढ़ निश्चय व साहस की आवश्यकता होती है। रत्नाकर ड़ाकू संत वाल्मिकी बन गया क्योंकि वह निर्भय, साहसी तथा अटल विश्वास वाला पुरुष था। इसी मानवीय कमाल का नाम 'सन्त' है। 'सन्त' तो संसार को मुक्त (आज़ाद) करने के लिए प्रकट होते हैं विशेषकर जन्म-मरण के बन्धन से मनुष्य को आज़ाद करा देते हैं। इसी स्वतन्त्रता के लिए संत कबीर दास जी महाराज "श्री हरिः!" का नाम जपने पर विशेष बल देते हुए कहते हैं:-

"कहें कबीर सुनो भाई साधू
मनसा विषय भरी।
मनवाँ तो कहीं ओर ही ढ़ोले
जपता नाम हरीः।।

अर्थात् :- संत कबीर दास जी महाराज कहते हैं कि मन विषय वासनाओं से भरा पड़ा है। यही कारण है कि मन कहीं ओर होता है और मुख से 'राम राम' अर्थात् "श्री हरिः!" के नाम की रट लगाता है।

यही भाव उनके एक और दोहे में भी है जो इस प्रकार है :-

"माला तो कर में फिरे
जीभ फिरे मुख माँहीं
मनुवा तो चहुँ दिसि फिरे
यह तो सुमिरण नाँही।।"

अर्थात् :- माला तो हाथ से फिरते रहते हैं, ज़बान से 'राम-राम' की रट लगाते रहते हैं परन्तु मन चारों

दिशाओं में फिरता रहता है यह स्मरण नहीं के बराबर है।

इसी भाव की अभिव्यक्ति उनके इस दोहे से भी होती है :-

"माला फेरत जुग भया
फिरा न मन का फेर।
कर का मनका ड़ारि के
मन का मनका फेर।।"

अर्थात् :- उनका कहना है कि माला फेरते फेरते जन्म तो बीत गया परन्तु मन की द्विविधा तनिक भी नहीं मिटी। अतः मन की द्विविधा यदि सच मुच मिटाना चाहते हो तो हाथ की माला छोड़ कर मन की माला फिरता जा।

अभिप्राय यह है कि "श्री हरिः!" का नाम मन की द्विविधा को मिटाने के लिए जपना होता है न कि दूसरों को दिखाने के लिए होता है। सत्गुरु की विधि के अनुसार नाम जपने का महत्व कुछ और ही है और अवश्य ही प्रकट होकर रहता है। जब सच्चे मन से सत्गुरु मन्त्र का स्मरण किया जाए तो वास्तविक कल्याण अवश्य ही प्राप्त होता है। गुरु जिस नाम का ईष्ट बन्धाता है वही असली नाम होता है। उसी के जपते जपते अभ्यास में न गुरु का रूप रहता है, न स्मरण, न ध्यान, न प्रकाश। ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जहाँ "मैं" और "तू" का भाव ही मिट जाता है। ऐसी अवस्था के लिए केवल गुरु की आस और ईश्वर प्राप्ति की दृढ़ इच्छा काम करती है। जैसा कि इस पद से स्पष्ट होता है :-

जो निरास हुआ समझ ले गुरु का दास न तू कभी।।"

अर्थात् :- सत्गुरु ऐसे दयालु होते हैं कि वह कभी किसी भक्त को निराश नहीं करते। परन्तु जो निराश हो जाते हैं वह गुरु के शिष्य कभी नहीं बन सकते।

यही भाव स्वामी सत्गुरु महाराज परम दयाल श्री गोविन्द कौल जी के इस भजन से स्पष्ट है :-

"ही सदाशिवॢऽ सानि बापत
अवतार धारुन प्यो'वुय।
दास उदास आ'ऽस्य गा'ऽमिऽ'त्य
दुःख निवारुन प्यो'वुय।।°°

शरण ़च्य ईश्वरसि'ऽय
आगरसि'य गो'ऽरसिय।
कठिनिस भवॢऽ सागरसिय
तारस ़च्य तारुन प्यो'वुय।।°°

नरॢऽ शरीर आख धा'ऽरिथ
दासन गोहम व'ऽरिथ।
ता'ऽरथक भवॢऽसरॢऽ साऽ'री
प्रथ कान्ह गारुन प्योऽ'वुय।।°°

पऽ'ज़्य पा'ऽठी सुबह शामस
लल्ऽवुन सत् नामस।
परमॢऽ धामस तॢऽ अन्नामस
गूव्यन्द खारुन प्योऽ'वुय।।°°

7. आध्यात्मिक विकास के चार दर्जे :-

सन्त मार्ग में आध्यात्मिक विकास के चार दर्जे वर्णित हैं। इनमें पहला दर्जा 'शरीयत' अर्थात् आचार-सद्व्यवहार। इसके अन्तर्गत स्वधर्म का पालन अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तों का पालन आता है। दूसरा दर्जा 'तरीकत' अर्थात् अभ्यास का मार्ग अर्थात् उपासना-पूजा अर्चणा आदि। तीसरा दर्जा 'मारफत' अर्थात् दिव्य ज्ञान की प्राप्ति। इसके अन्तर्गत आत्म बोध की पहचान तथा 'संवित शक्ति' (परम् तत्व) का प्रकटीकरण आता है। चोथाा दर्जा 'हकीकत' अर्थात् आत्मा-परमात्मा का एकीकरण। इसके अन्तर्गत आत्मा का परमात्मा में विलीन होना आता है।

सन्तों का मत है कि यह मालिक के बनाये हुए हैं और सृष्टि के साथ ही साथ बने हुए हैं। सूफी सन्त इसे "सुल्तान-उल-अज़कार" अर्थात् अभ्यासों का बादशाह कहते हैं। इनके अनुसार यह दर्जे हर समय में और हर मनुष्य के लिए एक से हैं। मनुष्य जन्म सफल बनाने के यही चार दर्जे हर धर्म, हर पन्थ, हर मार्ग, में वर्णित हैं।

इनमें पहला दर्जा जो 'शरीयत' का है इसमें देश-काल के आधार पर रीति रिवाजों तथा आचार व्यवहार का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी की पूर्ति के लिए तथा शरियत पर विश्वास बनाये रखने के लिए ही सूफी सन्त मन्सूर को अपना पोस्त उतरवाना पड़ा और उसने राज़ी खुशी से ही उसे भी स्वीकार किया। अतः धार्मिक सिद्धान्तों का पहले-पहले आचरण परम् आवश्यक

है। आजकल ऐसा देखने में आता कि विशेष पश्चिमी सभ्यता का हम पर प्रभाव पड़ने लगा है। जिस से हम अपनी सँस्कृति तथा सभ्यता को भूलते जा रहे हैं और पाश्चात्य सभ्यता को अपनाने लगे हैं। इसका प्रभाव ऐसा होने लगा कि हमारा खाना-पीना, उठना-बैठना, सोंच-समझ, सदाचार-सद्भाव, प्रेम-शफ्कत आदि बिगड़ने लगा है। यही कारण है कि शारीरिक क्लेश तथा मान्सिक तनाव बढ़ोतरी पर है। सबों के मन भौतिकवादी बनने लगे हैं। देखा-देखी से हम में खोखलाहट सी आने लगी है। ऐसी दशा में आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति करना यद्यपि असम्भव नहीं पर कठिन तो अवश्य हो सकता है। जिस प्रकार विशेष बीज के विकसित होने के लिए विशेष भूमि, विशेष जलवायु तथा विशेष वातावरण का होना अनिवार्य होता है, इसी प्रकार मनुष्य-योनियों की भी दशा होती है। हमारी योनी तो एक प्रकार के बीज से पनपी है तथा पश्चिमी देश वासियों की योनी दूसरे प्रकार के बीज की उपज है। जिस प्रकार धान की उपज के लिए एक प्रकार की भूमि, अधिक पानी तथा सुहावने जलवायु की आवश्यकता है परन्तु इसके विपरीत गेहूँ की उपज के लिए गर्म जलवायु, खुशक भूमि आदि की आवश्यकता है तथा मक्की के लिए सख्त भूमि की आवश्यकता है। यदि धान के स्थान पर गेहूँ बोया जाए और वही जलवायु अथवा अधिक पानी रखा जाये तो वह पनपने के बजाय सड़ जाए। यही बात है यदि गेहूँ के वातावरण में धान बोया जाए तो वहाँ पर घास के बिना कुछ नहीं उपजेगा। यही योग अभ्यास में भी समझने वाली बात है। योग अभ्यास में भी सिद्धि प्राप्ति

के लिए अपनी अपनी योनी अर्थात् मूल बीज के अनुसार विशेष प्रकार के खान-पान तथा आचार-विचार की आवश्यकता है। फिर भी आम तौर पर तमोगुणी-भोजन योग अभ्यास तथा आचार-विचार के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। जैसे प्याज़ माँस, मच्छी आदि के खाने से मन की चँचलता, क्रोध आदि शाँत नहीं हो सकता है। धुँधलाहट सी छा जाती है जिससे आत्म-स्वरूप का प्रतिबिम्ब प्रकट होना अर्थात् आत्म साक्षात्कार का होना अत्यन्त ही दुर्लभ बनता है। जब मन चंचल होता है तब चिन्ता छा जाती है और शरीर अस्वस्थ होने लगता है। जब तक शरीर स्वस्थ न हो, मन शान्त न हो, तब तक ईश्वर चिन्तन तथा योग अभ्यास निर्विघ्न नहीं हो सकता है। इसी पर कहा गया है :-

"शरीरम् आद्यम् खलु धर्म साधनम्।"

अर्थात् :- शरीर का स्वस्थ होना ही निश्चित रूप से धर्म की प्राप्ति है।

शरीर के स्वस्थ होने के साथ साथ 'अन' तथा 'सुकृत की कमाई' पर भी बहुत कुछ निर्भर होता है। इसी के बारे में यह कहावत है :- "जैसा अन वैसा मन!" इसी कारण से प्रत्येक पूजा के आरम्भ में अथवा प्रति दिन के प्रातः कालीन संध्या 'श्री गणेश' के आवाहन के साथ साथ सूर्य देव (आदित्य भगवान) का ध्यान करके इस मंत्र के उच्चारण का विधान है :-

"नमो धर्म निधानाय नमः सुकृत साक्षिणे।
नमः प्रत्यक्ष देवाय श्री भास्कराय नमो नमः।।"

इस से कोई अनुचित कार्य करके अथवा किसी को हानि पहुँचा कर अथवा धोखा देकर रोज़ी नहीं कमा

सकता है न ही उस से किसी का अमंगल ही हो सकता है। उसे कदम कदम पर ईश्वरी सत्ता ऐसा करने से सुरक्षित रखती है। उसे किसी से भी हानि नहीं पहुँच सकती है। यह इस मंत्र जाप की महत्ता है।

अन्याय से कमाया हुआ अन के खाने से अवश्य ही विचारों में मलिनता आती है जिस से मन कभी स्थिर नहीं रह सकता है। यह सब तो मनुष्य की समझ के बाहिर की वस्तु है क्योंकि माया के वश में होने के कारण इस सूक्ष्माति सूक्ष्म भाव का समझना बहुत ही कठिन है। मनुष्य को झूठा सच प्रतीत होता है और सच झूठा दिखाई देता है। माया का पर्दा मनुष्य की बुद्धि को ही उल्टा कर देता है और अन्त तक उसको भ्रम में ड़ाल कर रख देता है और ईश्वरीय रहस्य रहस्य ही रहता है। अनहद धुन तथा स्वस्वरूप की प्राप्ति से वह वञ्चित ही रहता है। क्योंकि जब नींव ही सुदृढ़ नहीं बन जाती तो ईमारत कैसे बन सकती। इसी लिए यदि आध्यात्मिक विकास का पहला दर्जा ही नहीं सुदृढ़ बन सकता तो शेष तीन दर्जों की बात ही क्या करनी। इन सभी दर्जों की बात तभी हो सकती जब पूर्ण कृपा पात्र मनुष्य बन सकता है:।

8. पाँच प्रकार के कृपा पात्र :-

इस आध्यात्मिक मार्ग के दर्जों को सफलता पूर्वक पार करने के लिए निम्न लिखित पाँच प्रकार के कृपा पात्र बनने की आवश्यकता है:-

1. संस्कार कृपा पात्र;
2. मान्सिक कृपा पात्र;

3. शास्त्रार्थ कृपा पात्र;
4. गुरु कृपा पात्र;
5. ईश्वरीय कृपा पात्र।

इनके अनुकूल होने पर ही वास्तविकता का पता चलता है अन्यथा मनुष्य अन्धा ही आता है और अन्धा ही जाता है। अस्सी-नब्बे वर्ष पशुओं की भाँति व्यतीत करके चले जाते हैं। यहाँ पर इन पर संक्षिप्त प्रकाश ड़ालना युक्ति संगत ही होगा।

1. संस्कार कृपा :-

इसमें समस्त वातावरण का अनुकूल होना आता है। इसका आधार पिछले जन्मों के कर्म फल पर तथा इस जन्म की परिस्थितियों पर होता है। इस जन्म की परिस्थिति तभी अनुकूल मिलती है जब पुराने जन्मों के संस्कार अच्छे होते हैं। संस्कार कृपा से इस जन्म का वातावरण ऐसा मिलता है कि आत्म-ज्ञान प्राप्ति के सभी प्रातिबन्ध हट जाते हैं, समस्त पाप मिट जाते हैं और अज्ञान दूर हो जाता है। इस जन्म के संस्कार भी पवित्र हो जाते है। सत्गुरु की संगति प्राप्त होती है। उसके सद्-सम्पर्क से ज्ञान विज्ञान से सम्मन्न होकर विचार शुद्धि होती है और मनुष्य का आत्मोद्धार होता है। उसका जन्म सफल होकर रहता है जो मनुष्य जन्म धारण करने का वास्तविक उद्देश्य होता है। संस्कार कृपा पात्र बनने से ही मनुष्य का जन्म सहज व सरल बनता है।

2. मान्सिक कृपा :-

मान्सिक-कृपा पर बहुत कुछ निर्भर होता है। मन

की कृपा के लिए सात्विक भोजन अनिवार्य होता है। इससे विचार धारा शुद्ध रहती है तथा मनुष्य जीवन सुख पूर्ण तथा आनन्द से व्यतीत होता है। इस पर एक छोटी सी कहानी प्रस्तुत है जो सत्गुरु महाराज ने एक समय सुनाई थी। उनके सुनाने का ढंग इतना प्रभाव शाली था कि अभी भी कानों में गूँज रही है और अन की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखने का प्रयत्न करते हैं। यह कहानी इस प्रकार है:-

"एक बार एक महान् तथा विरक्त साधु एक राजा के महल में रहता था। राजा उसका अनन्य भक्त तथा शिष्य भी था। वह उस साधु की सेवा सश्रुषा बड़े आदर, मान और श्रद्धा भाव से करता था। उस साधु को जिस किसी भी वस्तु की आवश्यकता होती थी राजा शीघ्र ही उसके लिए वह वस्तु हाज़िर रखता था। राजा का इस साधु पर दृढ़ विश्वास था। वह उस के लिए कुछ भी करने को तैय्यार था। साधु भी बडे आनन्द से वहाँ दिन व्यतीत करता था। वह भी राजा का उद्धार तथा हर ओर से मंगल-कल्याण की भावना रखता था। एक बार ऐसी घटना घटित हुई कि राजकुमारी ने अपने गले का बहुमूल्य हार वहाँ उसके कमरे में मेज़ पर उतार कर रखा और स्वयं नहाने के लिए चल पड़ी। साधु का मन इस हार को देख कर इस कदर ललचाया कि बिना सोचे समझे ही वह हार को उठा कर ले गया और जंगल की ओर चल पड़ा। इसी भ्रम में दिन भर भटकता फिरता रहा कि मानों उसने कोई बड़ा भारी किल्ला पा लिया हो। न उसे आर दिखाई देने लगा न पार। दूसरे दिन जब उसकी नींद खुलती है और वह

शौच स्नान आदि से मुक्त होता है उसे इस भ्रम का नशा उतर जाता है। वह सोचने लगता है कि उसे इस हार से क्या लेना देना। उसे इस हार से क्या मिलेगा। यह हार लेकर उसे क्या करना था जबकि राजा के महल में वह बड़े आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहा था। खाने पीने में भी कोई कमी नहीं रहती थी। तो न जाने क्योंकिर उसके मन में ऐसा लोभ उमड़ आया कि वह अपनी सुध बुद्ध ही खो बैठा। वह दौड़ता भागता शीघ्र ही राजा के पास पहुँचा और उसके सामने हार रख कर सारा वृत्तान्त सुनाया। वह कहने लगा, "महाराज! मेरे हाथ काट दिए जाँए। परन्तु पहले उस बावर्ची को सामने बुलाया जाए जिसने उस दिन का भोजन पकाया था।" राजा बहुत ही अचम्भे में पड़ जाता है। वहाँ बावर्ची के साथ साथ स्टोर कीपर से भी पूछताछ करने पर ज्ञात होता है कि जो चावल उस दिन पकाया गया था वह एक दुकानदार पर अन्याय ढ़ा कर ज़ोर ज़बरदस्ती करके छीन कर लाया गया था। वह दुकानकार बेचारा निर्दोष था और सचाई का व्यापार करता था। उस दिन वही अन्न पकाया गया था जो साधु ने खाया था। इसी अन्न के खाने के प्रभाव से उसके विचार मलिन हो गए थे और उसकी सुध बुद्ध मारी गई थी। इसी से वह मन का आपा ही खो बैठा था और वह ऐसा अनुचित कार्य कर बैठा था। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है किः

"जैसा अन्न वैसा मन;
जैसा मन वैसा जीवन!"

इस प्रकार शुद्ध तथा सात्विक भोजन पर ही मानिसक कृपा का आधार होता है और मान्सिक कृपा पात्र बन कर ही आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति तथा विकास प्राप्त होता है।

3. शास्त्र कृपा :-

शास्त्र कृपा के अन्तर्गत संत लोगों द्वारा रचित ग्रन्थों-पोथियों तथा सभी धार्मिक ग्रन्थों आदि का पठन-पाठन आता है और फिर उस पर अमल पैरा होना होता है। दूसरे धार्मिक ग्रन्थों की अवहेलना नहीं करनी होती है। इस बात का ध्यान रखना होता है कि सभी धार्मिक ग्रंथों में ईश्वरीय सत्ता का ही बखान होता है। यद्यपि विधियाँ भिन्न भिन्न होती हैं परन्तु लक्ष्य सब का एक ही होता है और वह तो केवल ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति का केन्द्र होता है। इस प्रकार शास्त्र कृपा पात्र बन कर वास्तविक ज्ञान का उपार्जन करना होता है और असार तत्व को छोड़ कर सार वस्तु को ग्रहण करना होता है। इस तरह से शास्त्र कृपा द्वारा मनुष्य सही मार्ग को अपना कर अपने जन्म को सफल बना सकता है।

4. गुरु कृपा :-

अपने सत्गुरु के प्रति अगाध प्रेम, श्रदा भाव तथा दृढ़ विश्वास गुरु कृपा की प्राप्ति के साधन हैं। इस के अन्तर्गत गुरु मन्त्र, जिसे गुरु दीक्षा भी कहते हैं पर विशेष बल ड़ाला जाता है। गुरु की बताई हुई विधि के अनुसार गुरु-शब्द का नित्य नियम पूर्वक उच्चारण व स्मरण अत्यन्त आवश्यक है। गुरु सेवा सत्गुरु मन्त्र का

जाप ही होता है जो जन्म को सफल बनाने के लिए बहुत ही महत्व पूर्ण होता है। प्रत्येक वेद-शास्त्र, उपनिषद्-पुराण, सन्त वाणी, गुरु दीक्षा पर ही विशेष बल ड़ालते हैं। अतः गुरु-कृपा पात्र बनना सर्व श्रेष्ठ माना गया है। जब जीव गुरु-कृपा का पात्र बनता है तो शेष कृपाएँ अनायास ही प्राप्त होती हैं। यह तो गुरु कृपा ही होती है कि मनुष्य योग-साधना की सभी अवस्थओं को सहज तथा सकुशल पार करके निरुद्ध अवस्था प्राप्त करके जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है और मनुष्य-जन्म का अभीष्ठ लक्ष्य प्राप्त करता है।

5. ईश्वरीय कृपा :-

ईश्वरीय कृपा का आधार गुरु कृपा ही है। इसमें गुरु का अद्वैत स्वरूप विशेष कार्य करता है। परम् गुरु परमिष्ठ गुरु, परम आचार्य, धर्माचार्य, परम-पिता परमात्मन् आदि देव का विशेष शरणागत भाव काम करता है। जब गुरु कृपा प्राप्त होती है तब स्वतः स्यद्ध ही ईश्वर कृपा की प्राप्ति होती है। जैसा कि संत कबीर दास जी की वाणी से स्पष्ट है :-

"कबिरा ते नर अन्ध हैं
गुरु को जाने ओर।
हरिः रूठे गुरु ठौर हैं
गुरु रूठे ना ठौर।।"

आर्थात् :- संत कबीर दास जी महाराज का कहना है कि वे मनुष्य अन्धे हैं जो गुरु को भगवान से पृथ्वक समझते हैं। यदि ईश्वर रुष्ट होता है तो गुरु का सहारा होता है जो ईश्वर को फिर से मना सकते हैं परन्तु गुरु

के रुष्ठ होने पर कोई सहारा अथवा ठिकाना नहीं होता है।

भाव इस प्रकार है कि ईश्वर प्राप्ति में हमारी साधना तभी फलीभूत हो सकती है जब ईश्वर कृपा प्राप्त हो। ईश्वर कृपा तभी प्राप्त होती है जब गुरु कृपा प्राप्त होती है। गुरु-कृपा से ही ईश्वर की पहचान आती है। 'शब्द' अथवा 'नाम' की कमाई ही मुक्ति प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग है जिसके बारे में हमें केवल पूरे पहुँचे हुए कामिल गुरु से ही पूरी पूरी जानकारी प्राप्त हो सकती है। यही भाव संत गुरु नानक साहिब इस प्रकार समझाते हैं :-

"बिन नामे हरि पूज न होई।
भरम भुली लोकाई।।"

अर्थात् :- दुनिया व्यर्थ भ्रमों में फँसकर इस चौरासी के जेलखाने में भूली हुई भटकती फिरती है। सत्गुरु मंत्र के बिना अर्थात् 'नाम' के बिना तो मुक्ति का कोई और उपाय नहीं।

यही भाव हजूर महाराज आदि गुरु स्वामी जी महाराज की वाणी से प्रकट है :-

"गुरु कहें खोलकर भाई
लग शब्द अनाहद जाई।
बिन शब्द उपाय न दूजा
काया का छूटे न कूजा।।"

अर्थात् :- 'शब्द' अथवा 'नाम' की कमाई के बिना और कोई उपाय नहीं है जिस से कि हम देह के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर सकें। बाकी जितने भी साधन जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य आदि हैं उन

सब का फल तो हमें अवश्य मिलता है, परन्तु उनका फल भोगने के लिए फिर से देह के बन्धनों में आना पड़ता है।

दूसरे एक और पद में हजूर महाराज स्वामी जी फरमाते हैं :-

"शब्द कर्म की रेख कटावे।
शब्द शब्द से जाय मिलावे।।
शब्द छोड़ मत अरे अजान।
राधा स्वामी कहे बखान।।"

अर्थात् :- गुरु शब्द के जाप से कर्म की रेखा मिट जाती है। शब्द-जाप से ही परम तत्त्व के साथ एकीकरण हो जाता है। अतः शब्द को छोड़कर अज्ञानी मत बन। ऐसा 'राधा-स्वामी' का सार तत्त्व है।

अतः ईश्वर कृपा पात्र बनने के लिए गुरु कृपा पात्र बनना आवश्यक है।

9. गायत्री मन्त्र तथा राधा-स्वामी मन्त्र के न्यासों का अन्तर सम्बन्ध :-

अब यहाँ पर गायत्री मन्त्र का जाप तथा राधा-स्वामी मंत्र का जाप के न्यासों का सम्बन्ध तथा अन्तर-सम्बन्ध को स्पष्ट करना भी अभीष्ट होगा। दोनों का लक्ष्य एक ही है केवल नाम भिन्न भिन्न हैं।

परन्तु कुछ लोग दूसरों को भ्रम में ड़ालकर अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा में राधा-स्वामी मत के बारे में उल्टा सीधा कहते हैं। वास्तविकता के पीछे बहुत ही कम व्यक्तियों का ध्यान जाता है और सब एक दूसरे को नफरत की निगाह से देखते हैं जबकि सभी ईश्वर

स्वरूप ही हैं। राधा स्वामी योग सूरत-शब्द योग का मार्ग है जिस में आत्मा को परमात्मा में लय करने का लक्ष्य है। सहज योग भी इसी को कहते हैं क्योंकि इस में सरल ढंग से लक्ष्य प्राप्ति का नियम तथा शुद्ध व सफल जीवन व्यतीत करने का नियम है। जो सच्चे भगवत् प्रेमी तथा ईश्वरीय तत्त्व के ज्ञान प्राप्ति के अनुयायी होते हैं और सच मुच ही आवागमन के चक्र से छूट कर अपना जन्म सफल बनाना चाहते हैं उनको इन झँझटों के पीछे नहीं पड़ना होता है। उन्हें आम खाने से गर्ज़ है न कि पेड़ गिनने से। येन-केन प्रकारेण मन के हलचल को शान्त करने की चेष्टा करनी होती है न कि इसको बढ़ाने की। ऐसा गुरु-मुखी होने के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता है। वेद, पुराण, उपनिषद्, संत, मुनि, ॠषि आदि सभी इसी पर बल डालते हैं कि "गुरु बिना गत् नहीं" और आवागमन चक्र मिटाना ही प्रत्येक प्राणी का अभीष्ट लक्ष्य है।

इस अन्तर-सम्बन्ध का संक्षिप्त विवरण दाता दयाल महार्षि शिव ब्रत लाल जी महाराज द्वारा इस प्रकार दिया गया है:-

अन्तर सम्बन्ध का रेखा चित्र

क्र० सं०	स्थान	गायत्री मंत्र का न्यास	राधा स्वामी मंत्र का न्यास	सूफीमत के अनुसार
1.	नाभिस्थान (मणिपूरक चक्र)	ॐ भूः	तलब	नासूत
2.	हृदयस्थल (अनाहत् चक्र)	ॐ भ्वः	इश्क	मलकूत
3.	मधिमा (विशुद्धाख्य)	ॐ स्वः	मारफत (दिव्य वाणी)	जबरूत
4.	नासिका बिन्दु	ॐ महाः	तवहीद (दिव्यबिन्दु)	लाहूत
5.	त्रिकुटि (आज्ञा चक्र)	ॐ जनः	इस्तगना (दिव्य प्रकाश)	हूत
6.	सुन्न महा सुन्न (शून्य चक्र)	ॐ तपः	हकीकत (कोटि सूर्य प्रकाश) परम तत्त्व	हूतल्हूत
7.	सहस्र दल चक्र	ॐ सत्यं	फना फिला (एकाकार)	हाहूत
8.	सत्यलोक (सच्च खण्ड)	अजपा जाप	बका (अविनाशी) लयस्थिति	----
9.	पर ब्रह्माण्ड	अजपा जाप	अलख (बे निशान) –	(दयाल देश)

10.	पर ब्रह्माण्ड	अजपा जाप	अगम (बे निशान)	----
11.	पर ब्रह्माण्ड	अजपा जाप	अनामी (बे नाम)	----

ॐ राधा स्वामी सहाय!

10. जीवात्मा का परमात्मा में विलीन होना वास्तविक लक्ष्य :-

संक्षेप में अब हम इतना देख चुके हैं कि जीवात्मा का केवल एक मात्र लक्ष्य यही है कि वह परमात्मा में विलीन हो जाए। इसके लक्ष्ण हैं अगम, अपार, अगाध, अनन्त, अपरम्पार तथा अभेद गति प्राप्त होना। राधा स्वामी मत में इसे दयाल देश की उपाधि दी जाती है। इनकी व्याख्या इस प्रकार है :-

1. **अगम** : जो पहुँच के परे की बात है अर्थात् जो मन, बुद्धि की समझ से परे है।

2. **अपार** : जिस का पार पाना कठिन होता है। अर्थात् जो इन्द्रियातीत होता है।

3. **अगाध** : इतना गहरा जो नापा न जा सके। अर्थात् जो गहरे मनन की वस्तु है। जिसका सार जानना कठिन है।

4. **अनन्त** : जिसका अन्त पाना कठिन है। अर्थात्

जिसका पूर्ण स्वरूप प्राप्त करना दुलर्भ है।

5. **अपरम्पार :** जिसकी माया अश्चर्यजनक है। जहाँ आश्चर्य ही आश्चर्य है।

6. **अभेद :** जो भेदभाव से रहित है। जो सूक्ष्माति सूक्ष्म रहस्य पूर्ण है। अतः इस गति को आसानी से पहचानना दुर्लभ होता है। परन्तु जन्म की सफलता के लिए अर्थात् मानव जन्म को सफल बनाने के लिए उसी ईशानि–ईश में विलीन होना ही एक मात्र ध्येय है जिस के लिए सभी देवी देवता त्रिकारण भी तरसते हैं। जैसा कि संत कबीरदास जी महाराज के इन दोहों से स्पष्ट है :–

(क) "आत्म अनुभव ज्ञान की जो कोई पूछे बात।
सो गुँगा गुड़ खाय के कहे कोन मुख स्वाद।।"

अर्थात् :– आत्म अनुभव की बात कहना असम्भव है। अर्थात् कोई नहीं कह सकता है कि आत्म अनुभव क्या होता है? यह तो ऐसी बात है कि गूँगा गुड़ खा कर उसके स्वाद के बारे में किस मुँह से कहे।

(ख) "तनथिर मनथिर वचनथिर
सूरत निरतथिर होय।
कह कबीर इस पलक को
कलप न पावै कोय।।"

अर्थात् :– तन, मन वचन, सूरत, निरत आदि की वास्तविक स्थिरता पाना बहुत ही कठिन होता है। कल्पान्त का समय बीतने पर ही कोई बिरला उस पल को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् उस स्थिति का अधिकारी बन सकता है।

(ग) "गई पूतली लूण दी, थाह सिंधु की लैन।
अनाथ आप आपे भई, उल्ट कहे को बैन।।"

अर्थात् :- जिसको उस मालिक की खबर मिली उसको फिर अपनी खबर न रही। नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने को गई परन्तु स्वयं पानी में गल गई तो दूसरों को क्या बताए।

यही भाव परम् दयाल स्वामी गोविन्द कोल महाराज के इस भजन से भी स्पष्ट रूप से वर्णित है :-

"च्यानि रोयुक च्यानि खोयुक
च्यानि मोयुक छुम कसम।।

जूऽ ना ह्यकयो ज़ांह बूऽ वनिथ।
यी चऽ्ऽ छुख त'थ्य हो लगय।।
कुन वनुन ते छुम नूऽ फोरन।
च्यान्जि कुनिरुक छुम कसम।।°°

नून वछ़ा'व मंज़ सो'दरस।
पय ह्यने ब्येयन वनव।।
पानूऽ सुय ग्वल कस वने वो'न्य।
च्यान्जि सनिरुक छुम कसम।।°°

भ्रमूऽ कि'न्य द्रास छ़ारने च़्य।
पानूऽ च़िय ओ'सुख पत'व।।
बि'य ना आसो कुनि वन्ये।
च्यान्जि ननिरुक छुम कसम।।°°

बुय ना रूदुस कुनि शाये।
च्यान्जि माये व'ल्य च़्वपोर।।

रो'स ना च़्ये'य छुय अख हवावि'य।
च्याञि गनिरुक छुम कसम।।°°

पा'ऽन्य पानस आख वुछि'न्ये।
द्राख गूव्यन्दा बनिथ।।
ब्याख च़्येय रो'स योर नो कान्ह।
च्याञि कुनिरुक छुम कसम।।°°

11. शरणागत भाव तथा आत्म समर्पण की विशेषताः–

अन्त में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जब तक शरणागत भाव नहीं आता है तब तक कुछ भी नहीं हो सकता है। यह तो शरणागत भाव ही होता है और सच्ची प्रीति व प्रतीति ही होती है कि सत्गुरु का अनुग्रह प्राप्त होता है और सहज ही में जीवात्मा परमात्मा में लय होता है। यही लय होना ही मनुष्य जन्म का वास्तविक लक्ष्य होता है जो सत्गुरु का कृपा पात्र बन कर ही प्राप्त हो सकता है। इसी के बारे में भगवान कृष्ण भगवद्गीता की अन्तिम अध्याय में अर्जुन से कहते हैं :–

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम।।"

अर्थात् :– हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वरकी ही शरण में जा। उस परमातमा की कृपा से ही, जिसका आधार सत्गुरु कृपा ही है, तू परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा।

लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति को त्यागकर

एवं शरीर और संसार में अहंता, ममता से रहित होकर केवल एक परमात्मा को ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भाव से श्रद्धा, भक्ति और प्रेम पूर्वक निरन्तर भगवान् के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूप का चिन्तन करते रहना एवं भजन, स्मरण व ध्यान रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्त्तव्य कर्मों का निस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिए आचरण करना ही परमातमा के शरण होना है।

एक और श्लोक में यहीं भाव इस प्रकार स्पष्ट है:-

"मत्कर्मकृत्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।"

अर्थात :- हे अर्जुन! जो मनुष्य केवल मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण (लीन, अर्थात् शरण लेने का भाव) है, मेरा अनन्य भक्त है, आसक्ति रहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैर भाव से रहित है, वह मुझ को ही प्राप्त है।

इसी प्रकार एक और श्लोक में वर्णित है :-

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धा वान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।"

अर्थात् :- सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

इसी पर श्री अल्खेश्वरी लल्लेश्वरी माता का कथन है :-

"यारिये कोंह मालि!"

परम् दयाल संत सत्गुरु स्वामी गाविन्द कोल जी

महाराज का यह भजन इसी भाव की अभिव्यक्ति है :-

(क) त्यलि दय दयाल टोठी

हर दम शरण शरण रोज़।

यिना गो'ऽर दयाल रोठी

हर दम शरण शरण रोज़।।°°

सत् शास्त्र प'ऽरथ प'ऽरथ,

धारणायि ध्यान द'ऽरथ द'ऽरथ।

क'ऽरथ क'ऽरथ ति व्यज़ पा'ऽठी।।°°

सो'ख कुनि ह्यूव नभयस

भयस मंज़ छु ज़यस।

दयस तिमय छि टा'ऽठी।।°°

गूव्यन्दुऽयिनूऽ खसी मद

शरमन्दूऽ स्वज़िथिय वद

बोऽ'छ युथ नूऽ ज़ांह च्य ब्रेठी।।°°

उन्हीं का यह दूसरा भजन इसी की पुष्टि करता है:-

"न्याय यलि अन्दी

अन्द वाती त्यलि ज़ुवूऽ तोषी।

हा गूव्यन्दो त्यलि

कण्ड्यन ति फ्वलनय पोशी।।

हा गूव्यन्दो परमूऽ शिवस

लाग लोलूऽ पोशी।।°°

पुशरिथ पान रोज़ त्रा'ऽविथ

सा'ऽरी हो'ऽश तृऽ वो'ऽशी।
तऽ'थ्य मन्ज़ चू खो'ऽश रोज़
यथ मंज़ सु रोज़ी खो'ऽशी।।°°

सत् चित् आनन्द
सत्गो'ऽर सु गूब्यन्दुन ज़ुव।
शिव पा'ऽन्य पानय
च्यावान अमृत कर नोशी।।°°

हा गूब्यन्दो परमूऽ शिवस
लाग लोल् पोशी।
हा गूब्यन्दो त्यलि कण्डऽयन
ति फ्वलनय पोशी।।°°

ॐ राधा स्वामी सहाय!

-इति-

Computer Designed by :
SOFTLINE COMPUTERS AND PRINTERS
(First Floor) Old Janipur, Jammu.